अंक : 4, दिसम्बर 2018

LEISA INDIA

लीज़ा इण्डिया

विशेष हिन्दी संस्करण

लीज़ा इण्डिया

विशेष हिन्दी संस्करण
दिसम्बर 2018, अंक 4

यह अंक लीज़ा इण्डिया टीम के साथ मिलकर जी०ई०ए०जी० द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है, जिसमें लीज़ा इण्डिया में प्रकाशित अंग्रेजी भाषा के कुछ मूल लेखों का हिन्दी में अनुवाद एवं संकलन है।

गोरखपुर एनवायरन्मेन्टल एक्शन ग्रुप
224, पुर्दिलपुर, एम०जी० कालेज रोड,
पोस्ट बाक्स 60, गोरखपुर- 273001
फोन : +91-551-2230004,
फैक्स : +91-551-2230005
ईमेल : geagindia@gmail.com
वेबसाइट : www.geagindia.org

ए.एम.ई. फाउण्डेशन
नं० 204, 100 फीट रिंग रोड, 3rd फेज, 2nd ब्लाक,
3rd स्टेज, बनशंकरी, बैंग्लोर- 560085, भारत
फोन : +91-080-26699512,
+91-080-26699522
फैक्स :+91-080-26699410,
ईमेल : leisaindia@yahoo.co.in

लीज़ा इण्डिया
लीज़ा इण्डिया अंग्रेजी में प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका है, जो इलिया की सहभागिता से ए.एम.ई. फाउण्डेशन बैंग्लोर द्वारा प्रकाशित होती है।

मुख्य सम्पादक
के.वी.एस. प्रसाद, ए.एम.ई. फाउण्डेशन

प्रबन्ध सम्पादक
टी.एम.राधा., ए.एम.ई. फाउण्डेशन

अनुवाद समन्वय
अर्चना श्रीवास्तव, जी.ई.ए.जी.
वीणा, ए.एम.ई. फाउण्डेशन

तकनीकी सहयोग
विजय कुमार पाण्डेय

प्रबन्धन
रूक्मिणी जी.जी., ए.एम.ई. फाउण्डेशन

लेआउट एवं टाईपसेटिंग
राजकान्ती गुप्ता, जी.ई.ए.जी.

छपाई
कस्तूरी ऑफसेट, गोरखपुर

आवरण फोटो
जी०ई०ए०जी०

लीज़ा पत्रिका के अन्य सम्पादन
लैटिन, अमेरिकन, पश्चिमी अफ्रीकन एवं ब्राजीलियन संस्करण

लीज़ा इण्डिया पत्रिका के अन्य क्षेत्रीय सम्पादन
तमिल, कन्नड़, उड़िया, तेलगू, मराठी एवं पंजाबी

सम्पादक की ओर से लेखों में प्रकाशित जानकारी के प्रति पूरी सावधानी बरती गई है। फिर भी दी गई जानकारी से सम्बन्धित किसी भी त्रुटि की जिम्मेदारी उस लेख के लेखक की होगी।

माइजेरियर के सहयोग एवं जी०ई०ए०जी० के समन्वयन में ए०एम०ई० द्वारा प्रकाशित

लीज़ा

कम बाहरी लागत एवं स्थायी कृषि पर आधारित लीज़ा उन सभी किसानों के लिए एक तकनीक और सामाजिक विकल्प है, जो पर्यावरण सम्मत विधि से अपनी उपज व आय बढ़ाना चाहते हैं क्योंकि लीज़ा के अन्तर्गत मुख्यतः स्थानीय संसाधनों और प्राकृतिक तरीकों को अपनाया जाता है और आवश्यकतानुसार ही बाह्य संसाधनों का सुरक्षित उपयोग किया जाता है।

लीज़ा पारम्परिक और वैज्ञानिक ज्ञान का संयोग है, जो विकास के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करता है। यह भी मुख्य है कि इसके द्वारा किसानों की क्षमता को विभिन्न तकनीकों से मजबूत किया जाता है और खेती को बदलती जरूरतों और स्थितियों के अनुकूल बनाया जाता है, साथ ही उन महिला एवं पुरुष किसानों व समुदायों का सशक्तिकरण होता है, जो अपने ज्ञान, तरीकों, मूल्यों, संस्कृति और संस्थानों के आधार पर अपना भविष्य बनाना चाहते हैं।

ए.एम.ई. फाउण्डेशन, डक्कन के अर्द्धशुष्क क्षेत्र के लघु सीमान्त किसानों के बीच विकास एजेन्सियों के जुड़ाव, अनुभव के प्रसार, ज्ञानवर्द्धन एवं विभिन्न कृषि विकल्पों की उत्पत्ति द्वारा पर्यावरणीय कृषि को प्रोत्साहित करता है। यह कम लागत प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन के लिए पारम्परिक ज्ञान व नवीन तकनीकों के सम्मिश्रण से आजीविका स्थाईत्व को बढ़ावा देता है।

ए.एम.ई. फाउण्डेशन गांव में इच्छुक किसानों के समूह को वैकल्पिक कृषि पद्धति तैयार करने व अपनाने में सक्षम बनाने हेतु उनके साथ जुड़कर सघन रूप से काम कर रही है। यह स्थान अभ्यासकर्ताओं व प्रोत्साहकों के लिए उनकी देखने–समझने की क्षमता में वृद्धि करने हेतु सीखने की परिस्थिति के तौर पर है। इससे जुड़ी स्वयं सेवी संस्थाओं और उनके नेटवर्क को जानने के लिए इसकी वेबसाईट देखें–(www.amefound.org)

गोरखपुर एनवायरन्मेन्टल एक्शन ग्रुप एक स्वैच्छिक संगठन है, जो स्थाई विकास और पर्यावरण से जुड़े मुद्दों पर सन् 1975 से काम कर रहा है। संस्था लघु एवं सीमान्त किसानों, आजीविका से जुड़े सवालों, पर्यावरणीय संतुलन, लैंगिक समानता तथा सहभागी प्रयास के सिद्धान्तों पर सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। संस्था ने अपने 40 साल के लम्बे सफर के दौरान अनेक मूल्यांकनों, अध्ययनों तथा महत्वपूर्ण शोधों को संचालित किया है। इसके अलावा अनेक संस्थाओं, महिला किसानों तथा सरकारी विभागों का आजीविका और स्थाई विकास से सम्बन्धित मुद्दों पर क्षमतावर्धन भी किया है। आज जी0ई0ए0जी0 ने स्थाई कृषि, सहभागी प्रयास तथा जेण्डर जैसे विषयों पर पूरे उत्तर भारत में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। इसकी वेबसाईट देखें–(www.geagindia.org)

माइजेरियर वर्ष 1958 में स्थापित जर्मन कैथोलिक बिशप की संस्था है, जिसका गठन विकासात्मक सहयोग के लिए हुआ था। पिछले 50 वर्षों से माइजेरियर अफ्रीका, एशिया और लातिन अमेरिका में गरीबी के विरूद्ध लड़ने के लिए प्रतिबद्ध है। जाति, धर्म व लिंग भेद से परे किसी भी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह हमेशा तत्पर है। माइजेरियर गरीबी और हानियों के विरूद्ध पहल करने के लिए प्रेरित करने में विश्वास रखता है। यह अपने स्थानीय सहयोगियों, चर्च आधारित संगठनों, गैर सरकारी संगठनों, सामाजिक आन्दोलनों और शोध संस्थानों के साथ काम करने को प्राथमिकता देता है। लाभार्थियों और सहयोगी संस्थाओं को एक साथ लेकर यह स्थानीय विकासात्मक क्रियाओं को साकार करने और परियोजनाओं को क्रियान्वित करने में सहयोग करता है। यह जानने के लिए कि स्थिर चुनौतियों की प्रतिक्रिया में माइजेरियर किस प्रकार अपनी सहयोगी संस्थाओं के साथ काम कर रहा है। इसकी वेबसाइट देखें (www.misereor.de; www.misereor.org)

स्थानीय ज्ञान, स्थानीय समाधान : जलवायु परिवर्तन से अनुकूलन

सोनाली बिष्ट

जलवायु परिवर्तन परिस्थितियों से अनुकूलन स्थापित करने के लिए किसानों द्वारा किये जाने वाले नवाचार स्थानीय ज्ञान की उपज होते हैं। ये ज्ञान व जानकारियां नवाचार किये जाने वाले क्षेत्रों के साथ ही उसके आस–पास के क्षेत्रों के लिए भी प्रासंगिक एवं उपयोगी होती हैं। जलवायु परिवर्तन के साथ अनुकूलन स्थापित करने में ज्ञान के विकसित होते वृक्ष की पहचान व उसका उपयोग करना किसानों के लिए बहुत लाभकारी होगा।

अनुक्रमणिका

विशेष हिन्दी संस्करण, दिसम्बर 2018

5 **स्थानीय ज्ञान, स्थानीय समाधान : जलवायु परिवर्तन से.....**
सोनाली बिष्ट

8 **मोटे अनाजों से स्वास्थ्यपरक खाद्य पदार्थों तक : आत्म.....**
देबजीत सारंगी और काव्या चौधरी

11 **स्थानीय नस्लों के साथ स्थाई दुग्ध व्यवसाय**
किसान डायरी

12 **पशुधन : पहाड़ी अर्थव्यवस्था के प्राण व प्रेरणा**
आर.के. मैखुरी, एल.एस.रावत, पी.सी. फोन्दानी, अजय मलेथा एवं वाई.एम. बहुगुणा

15 **भूली–बिसरी फसलों का वापस आना : ब्राउन टॉप.....**
अनिता रेड्डी एवं कृष्ण प्रसाद जी

18 **चरवाहा जन–संसद : देखने–सुनने का एक मंच**
मोनिका अग्रवाल एवं जेसिका दुनकन

मोटे अनाजों से स्वास्थ्यपरक खाद्य पदार्थों तक : आत्म निरीक्षण का समय

देबजीत सारंगी और काव्या चौधरी

ओडिशा में कोंध जनजातीय समुदायों के लिए मोटे अनाज हमेशा से एक पारिस्थितिक–सांस्कृतिक प्रणाली का एक हिस्सा रहे हैं। कोंध समुदाय जीवन को स्थाईत्व प्रदान करने हेतु पृथ्वी एवं सभी जीव–जन्तुओं के साथ सम्बन्धों को बनाये रखने, साझा करने व देख–भाल की संस्कृति को पोषित करते हैं। सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने व उसे स्थाई बनाये रखने हेतु किसी भी बाहरी पहल को प्रोत्साहित करने से पहले समुदाय की पारम्परिक संस्कृतियों को समझना आवश्यक होगा।

पशुधन : पहाड़ी अर्थव्यवस्था के प्राण व प्रेरणा

आर.के. मैखुरी, एल.एस.रावत, पी.सी. फोन्दानी, अजय मलेथा एवं वाई.एम. बहुगुणा

परम्परागत रूप से चरवाहा समुदायों की सामुदायिक संसाधनों तक आसानी से पहुँच होती थी और वे खेती एवं पशुधन दोनों को एक साथ प्रबन्धित करते थे। लेकिन सामूहिक संसाधनों पर स्वामित्व में धीरे–धीरे हो रहे ह्रास के कारण, वे बदलती परिस्थितियों से अनुकूलन स्थापित कर रहे हैं और अपने पशुधन की संख्या तथा उनके रख–रखाव के तरीकों में फेर–बदल कर रहे हैं।

भूली–बिसरी फसलों का वापस आना : ब्राउन टॉप बाजरा

अनिता रेड्डी एवं कृष्ण प्रसाद जी

कर्नाटक का मुख्य भोजन बाजरा वापस आ रहा है। किसान अब फिर से बाजरा को उगाने लगे हैं। यह छोटे दानों वाला मोटा अनाज होता है, जो कम उपजाऊ जमीन व कम पानी में उगायी जा सकती है। जलवायु परिवर्तन से उत्पन्न संकट से निपटने के अलावा, अपनी उच्च पोषक गुणवत्ता के चलते ग्रामीण भारत में गरीबी के कारण कुपोषण व शहरी एवं अर्ध शहरी भारत में जीवन शैली की वजह से उत्पन्न बीमारी एवं कुपोषण से निपटने में भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

चरवाहा जन संसद : देखने–सुनने का एक मंच

मोनिका अग्रवाल एवं जेसिका दुनकन

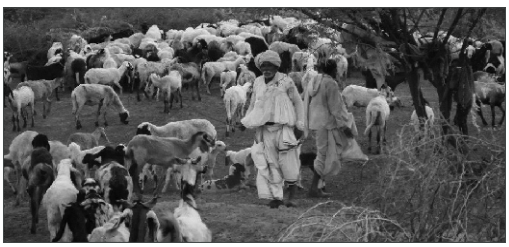

भारत में चरवाहा समुदाय अपनी बातों को उचित मंच तक पहुँचाने हेतु लम्बे समय से संघर्ष कर रहे हैं। सांस्कृतिक और धार्मिक भेद–भावों के चलते यह स्थिति और भी विकट हुई है। लेकिन चरवाहा संसद एक नई पहल है जो उन्हें अपनी पहचान बनाने, समूह के तौर पर पहचाने जाने तथा राजनीतिक गतिविधियों के संचालन हेतु तैयार कर रही है। चरवाहा संसद एक ऐसी जगह है, जहां राजनैतिक, धार्मिक अथवा जातिगत भेद–भाव के बगैर चरवाहा समुदायों को मिलने, अपने मुद्दों पर चर्चा करने और उनका समाधान निकालने हेतु एक मंच मिलता है।

यह अंक...

सम्पादकीय,

वैश्विक मंदी और कृषि पर मंडराते खतरों के बीच देश के कोने–कोने में किसान अपनी खेती के प्रति सचेत हो रहे हैं और घर–खेत–घारी के संयोजन की महत्ता को समझते हुए खेती व पशुपालन दोनों में अपने देशज ज्ञान का उपयोग कर रहे हैं। हांलाकि इनकी संख्या अभी बहुत कम है और कृषि एवं आर्थिक परिदृश्य में बड़ा बदलाव लाने हेतु इन प्रयासों के व्यापक विस्तार की आवश्यकता है। लीज़ा इण्डिया विभिन्न भाषाओं के माध्यम से इन्हीं प्रयासों की एक कड़ी है, जो छिट–पुट किसानों के सफल अनुभवों व ज्ञान को किसानों के एक बड़े समूह के बीच प्रसारित करने हेतु प्रतिबद्ध है।

पत्रिका का पहला लेख जलवायु परिवर्तन के कारण कृषि के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों से पार पाने हेतु उत्तराखण्ड के किसानों द्वारा किये जा रहे प्रयासों पर आधारित है। लेखिका सोनाली बिष्ट का मानना है कि स्थानीय परिस्थितियों पर आधारित नवाचार स्थानीय ज्ञान की उपज होते हैं और इन प्रयासों को अपनाकर जलवायु परिवर्तन से हो रहे बदलावों से अनुकूलन स्थापित किया जा सकता है। श्री देवजीत सारंगी और काव्या चौधरी द्वारा लिखित दूसरा लेख ''मोटे अनाजों से स्वास्थ्यपरक खाद्य पदार्थों तक : आत्मनिरीक्षण का समय'' स्वस्थ जीवन जीने के लिए मोटे अनाजों की भूमिका को रेखांकित करता है। इस लेख में यह भी बताया गया है कि ओडिशा के कोंध आदिवासी समुदायों में मोटे अनाज उनकी संस्कृति से जुड़े हुए है जो आधुनिकता की चमक में खोते जा रहे हैं। आज आवश्यकता है कि इन प्रणालियों को पुनर्जीवित कर स्वस्थ जीवन शैली के प्रति लोगों को उत्प्रेरित किया जाये।

पत्रिका के तीसरे पायदान पर ''स्थानीय नस्लों के साथ स्थाई दुग्ध व्यवसाय'' नामक आत्मलेख है, जो केरल के किसान श्री मनी कोट्टेक्कड की कहानी है। इसमें यह दर्शाया गया है कि पशुओं की स्थानीय नस्लों का पालन हमेशा ही लाभप्रद रहा है। पत्रिका का चौथा लेख आर.के. मैखुरी, एल.एस. रावत, पी.सी. फोन्दानी, अजय मलेथा एवं वाई.एम. बहुगुणा द्वारा लिखित '' पशुधन : पहाड़ी अर्थव्यवस्था के प्राण व प्रेरणा'' है। नाम से ही स्पष्ट है कि पहाड़ी क्षेत्रों में लोग अपनी रोजी–रोटी के लिए पशुधन पर हमेशा से ही आधारित रहे हैं। बड़े–बड़े बुग्यालों एवं चारागाहों की उपलब्धता तथा वनों पर लोगों की आसानी से पहुंच के नाते इनका पालन–पोषण भी बहुत खर्चीला नहीं था। परन्तु बदलती जलवायुविक परिस्थितियों के साथ–साथ राजनैतिक तथा प्रशासनिक हस्तक्षेपों ने इस स्रोत को काफी नुकसान पहुंचाया है। इसे पुनः सहेजने की आवश्यकता है।

पत्रिका का पांचवा लेख पोषण से भरपूर मोटे अनाजों की स्वस्थ जीवन शैली हेतु आवश्यकता को रेखांकित करता है। लेखकद्वय अनिता रेड्डी एवं कृष्ण प्रसाद जी ने ''भूली–बिसरी फसलों का वापस आना : ब्राउन टॉप बाजरा'' नामक लेख में बाजरा की खेती के सामाजिक एवं आर्थिक महत्ता को बताते हुए इस बात पर जोर दिया है कि इन फसलों को बढ़ावा देने हेतु मूल्य संवर्धन प्रक्रियाओं को अवश्य प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। छठां व अन्तिम लेख चरवाहा समुदायों की राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक उपेक्षा को ध्यान में रखकर लिखा गया है। मोनिका अग्रवाल व जेसिका दुनकन द्वारा लिखित ''चरवाहा संसद : देखने–सुनने का एक मंच'' नामक लेख में चरवाहा समुदायों की विभिन्न गतिविधियों को प्रोत्साहित व उत्प्रेरित करने हेतु चरवाहा संसद नामक पहल का उल्लेख किया गया है, जिसने पूरे गुजरात के चरवाहा समुदायों को एक करने में काफी मदद की है।

अन्त में पत्रिका के अन्तर्गत शामिल लेखों एवं अनुभवों की उपयोगिता एवं महत्ता पर आपके बहुमूल्य सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी।

नववर्ष की शुभकामनाओं के साथ.....

• **सम्पादक मण्डल**

फोटो : लेखक

कम पानी चाहने वाली श्री पद्धति को अब चावल, गेहूँ एवं अन्य फसलों में अपनाया जा रहा है।

स्थानीय ज्ञान, स्थानीय समाधान : जलवायु परिवर्तन से अनुकूलन

सोनाली बिष्ट

जलवायु परिवर्तन परिस्थितियों से अनुकूलन स्थापित करने के लिए किसानों द्वारा किये जाने वाले नवाचार स्थानीय ज्ञान की उपज होते हैं। ये ज्ञान व जानकारियां नवाचार किये जाने वाले क्षेत्रों के साथ ही उसके आस–पास के क्षेत्रों के लिए भी प्रासंगिक एवं उपयोगी होती हैं। जलवायु परिवर्तन के साथ अनुकूलन स्थापित करने में ज्ञान के विकसित होते वृक्ष की पहचान व उसका उपयोग करना किसानों के लिए बहुत लाभकारी होगा।

विश्व में सबसे नयी पहाड़ी श्रृँखला के रूप में प्रसिद्ध हिमालयन पहाड़ी श्रृँखला न केवल भौगोलिक दृष्टि से अस्थाई श्रृँखला है, वरन् जलवायु परिवर्तन के प्रति भी संवेदनशील है। 2000 से लेकर 6000 फीट की ऊँचाई पर हिमालयन क्षेत्र के मध्य में रहने वाले गाँववासियों को ऊँचाई, ढलान, मृदा एवं जल स्रोतों आदि में भिन्नता के कारण सूक्ष्म जलवायुविक एवं भौगोलिक उतार–चढ़ावों को झेलना पड़ता है।

> जाड़ों में होने वाली बारिश न होने अथवा कम होने के कारण किसान गेंहूं एवं सरसों की फसलों के स्थान पर अलसी(तीसी) की खेती करने लगे।

इन छोटी–छोटी घाटियों में खेती मुख्य रूप से वर्षा आधारित होती है और गुरूत्वाकर्षण प्रवाह का उपयोग करते हुए नदियों एवं धाराओं से जल लाकर सिंचाई की जाती है। समय पर बारिश की अनिश्चितता हमेशा से ही एक जोखिम रहा है। किसानों ने जोखिम से अनुकूलन स्थापित करने वाले पारम्पारिक ज्ञान एवं अभ्यासों का संचय किया है। चुनौतीपूर्ण स्थितियों में रहने के नाते, इस क्षेत्र के किसान जलवायु परिवर्तन से निपटने हेतु निरन्तर नवाचार एवं अनुकूलन कर रहे हैं।

वर्ष 2012 में इनहियर नामक स्वैच्छिक संगठन ने मिज़ेरियर सहायतित परियोजना ''स्थानीय नवाचार एवं प्रयोग'' के अन्तर्गत एक अध्ययन किया। इस अध्ययन का उद्देश्य जलवायु परिवर्तन पर किसानों के विचारों तथा कृषि पर जलवायु परिवर्तन के पड़ने वाले प्रभावों को जानना था। परियोजना के अन्तर्गत अनिश्चित मौसमी स्थितियों एवं चरम मौसमिक घटनाओं के तौर पर सामने आ रहे जलवायु परिवर्तन से अनुकूलन स्थापित करने हेतु किसानों द्वारा किये जा रहे नवाचारों की पहचान करनी थी। उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु उत्तराखण्ड राज्य के चमोली एवं अल्मोड़ा जिले के पहाड़ी गाँवों में किसानों के साथ सर्वेक्षण किया गया।

सभी किसानों ने मौसमी परिस्थितियों में बदलावों को महसूस किया एवं अपनी फसलों के साथ ही प्राकृतिक वनस्पतियों पर भी इन बदलावों के कारण पड़ने वाले प्रभावों को देखा। इन बदलावों में सर्दियों में बारिश का न होना, मानसून पूर्व कम बारिश का होना, देर से होने वाली बारिश, एक बारिश से दूसरी बारिश के बीच में लम्बा अन्तराल, बादल फटने व मूसलाधार बारिश की घटनाओं में वृद्धि आदि प्रमुख तौर पर परिलक्षित हो रहे हैं। उन्होंने यह भी महसूस किया कि अब सर्दियों में बर्फ कम गिर रही है और शीतलहर की अवधि बढ़ गयी है, जिससे फसलों और यहाँ तक कि बड़े–बड़े फलदार वृक्ष भी समाप्त होते जा रहे हैं। बर्फबारी में गिरावट आने से मृदा में नमी की कमी होती जा रही है, जो सर्दियों के बाद फसलों की जल्द बुवाई के लिए जरूरी होती है।

जलवायु परिवर्तन से अनुकूलन हेतु किसानों द्वारा किये जा रहे नवाचार

अनिश्चित मौसमी परिस्थितियों एवं जलवायु परिवर्तन से अनुकूलन स्थापित करने हेतु किसानों द्वारा स्वयं तरीके तलाश किये जा रहे हैं। इसके अन्तर्गत भूमि की तैयारी, बुवाई की पद्धति, खेती की देख–भाल, कटाई, कटाई के बाद देख–भाल व भण्डारण से जुड़े नवाचार एवं अनुकूलन अभ्यासों को अपनाया जा रहा है। खेती करने के तरीकों एवं फसलों की पसन्द में परिवर्तन हो रहे हैं।

जल्द प्रारम्भ होने वाली गर्मियों एवं गर्म होती सर्दियों से अनुकूलन स्थापित करने हेतु कुछ किसानों ने कुछ सब्ज़ियों जैसे – पहाड़ी ककड़ी, मिर्च, सेम एवं कद्दू की कुछ प्रजातियों की बुवाई समय से पहले की। अर्थात् मार्च में बोयी जाने वाली इन सब्ज़ियों की बुवाई जनवरी के अन्त में की गयी और इसके अच्छे परिणाम भी प्राप्त हुए। लम्बे समय तक चलने वाली शीतलहर से सबक लेते हुए शेरूभनेरिया गाँव की जानकी देवी ने लतादार सब्जियों के बीजों को एक टिन में बो दिया और टिन को गाय के ताजे गोबर के ढेर पर रख दिया। जब मौसम उपयुक्त हुआ, तब उन्होंने टिन से पौधों को निकालकर रोपित किया और समय से सब्ज़ियां प्राप्त कीं।

सर्दियों में बारिश न होने के कारण गेंहूं व सरसों जैसी पारम्परिक फसलों की बढ़त पर गम्भीर असर पड़ा। साथ ही इन फसलों को जंगली जानवरों जैसे – बन्दरों एवं जंगली सूअरों द्वारा भी काफी नुकसान पहुंचाया जा रहा था। शेरूभनेरिया गाँव के ही हीराबल्लभ ने सर्दियों में गेंहूं एवं सरसों की फसलों के बजाय पटुआ या अलसी की खेती कर इन दोनों ही समस्याओं से सफलतापूर्वक मुक्ति पायी। फदीका गाँव की महिला किसानों सरला देवी, मोहनी देवी एवं हंसा देवी ने बकुला व डेन जैसी लम्बे समय से उपेक्षित स्थानीय पारम्परिक फसलों को पुनर्जीवित किया। बकुला एक सेमवर्गीय फसल है, जिसकी हरी पत्तियां सब्जी के तौर पर खायी जाती हैं। डेन एक तिलहन फसल है। इसकी भी हरी पत्तियां पकाकर खायी जाती हैं। ये दोनों ही फसलें शुष्क मौसमी परिस्थितियों में आसानी से उगायी जाती हैं।

मृदा नमी को संरक्षित करने हेतु कुछ किसानों ने खेतों में तीन जुताई के स्थान पर एक या दो जुताई करनी प्रारम्भ कर दी। इससे पहली बारिश से खेत में उत्पन्न हुई नमी को संरक्षित करने और एक बारिश से दूसरी बारिश के बीच के लम्बे अन्तराल से अनुकूलन स्थापित करने में मदद मिली। कुछ किसान अपने खेतों के गहरे व दलदली क्षेत्रों से पानी एकत्र कर संरक्षित करने का प्रयास कर रहे हैं। मृदा नमी को संरक्षित करने हेतु मल्चिंग करने की प्रथा इस क्षेत्र में तेजी से बढ़ती जा रही है। पानी का कम उपयोग करने हेतु धान, गेंहू, मोटे अनाजों एवं अन्य फसलों की बुवाई में श्री पद्धति का उपयोग तेजी से किया जा रहा है।

पाला से फसलों का विशेष क्षति पहुँचती है। बहुत तेज पाला पड़ने के साथ ही इसकी अवधि भी बढ़ती जा रही है। सूर्यास्त के बाद पाला पड़ना शुरू हो जाता है और सुबह सूरज उगने के बाद भी देर तक पाला का व्यापक असर रहता है। बसन्ती देवी ने यह देखा कि यदि पाला पड़ने वाले दिनों में दोपहर के बाद खेतों में पानी दिया जाये तो पौधों पर पाला का असर बहुत कम पड़ता है।

जलवायु में परिवर्तन के कारण, फसलों में सफेद मक्खी के आक्रमण की घटनाएं बढ़ रही हैं, जिन्हें स्थानीय तौर पर कुरमुला कहते हैं। यह कीट मृदा में पनपता है और पौधों की जड़ों से भोजन लेता है, नतीजतन पौधे सूखकर मर जाते हैं। बसोरा गाँव के एक किसान धरमपाल सिंह ने यह देखा कि अकरकरा (वानस्पतिक नाम– एनासाइक्लस पेरिथ्रीम) नामक पौधे पर इन कुरमुला कीटों का आक्रमण बहुत कम होता है। इसलिए इन्होंने अकरकरा के पौधों को अपने खेतों के चारों तरफ बाड़ के तौर पर उपयोग किया। इसी प्रकार नौगाँव बैरिया गाँव की लक्ष्मी देवी ने सब्ज़ियों की फसलों के साथ अकरकरा के पौधों की अन्तःखेती की और कुरमुला कीटों के आक्रमणों को सफलतापूर्वक कम किया। इस विधि की उपयोगिता को देखते हुए अन्य किसान भी इसे अपनाने का प्रयास कर रहे हैं।

फलदार वृक्षों में फूल आने के समय में बदलाव हो रहा है। कीड़े इन फूलों पर आक्रमण करते हैं और फूलों के अन्दर अण्डे दे देते हैं, जो फल बनते समय भी उसके अन्दर ही रहते हैं जिससे फल खराब हो जाते हैं। दसैथल गाँव के राजेन्द्र बिष्ट ने यह देखा कि यदि फूल बनने की अवस्था में वृक्षों पर गौमूत्र का छिड़काव कर दिया जाये तो कीट फूलों पर नहीं बैठते और इस प्रकार फूल इन कीटों के अण्डों से सुरक्षित रहते हैं। किसानों ने फसल अपशिष्टों तथा अन्य स्थानीय संसाधनों से बनने वाले कम्पोस्ट खाद, तरल खाद एवं अन्य वृद्धि उत्प्रेरकों के साथ ही जैव कीट नियंत्रकों की खोज की, जो सूखा परिस्थितियों के दौरान निश्चित तौर पर रसायनों की अपेक्षा अधिक प्रभावी होते हैं।

फसलों की भूसी निकालने, सुखाने और भण्डारण के समय लम्बी अवधि तक होने वाली बारिश और नमी से बहुत नुकसान होता है। मध्य हिमालयन क्षेत्र में नगदी फसल के तौर पर सामान्य रूप से हल्दी उगाई जाती है। पारम्परिक रूप से, हल्दी की खुदाई करने के बाद उसे धोकर उबाल लिया जाता है और छोटे–छोटे टुकड़ों में काटकर 8–10 दिनों तक धूप में सुखाया जाता था। फिर भी, इन दिनों पर्याप्त धूप न होने के कारण बहुधा हल्दी सड़ जाती थी। इस समस्या से निपटने हेतु, आदिग्राम गाँव की कमला देवी ने हल्दी उबालकर उसे छोटे–छोटे टुकड़ों में काटकर कुचल दिया। इस प्रक्रिया से हल्दी 4–5 दिनों की धूप में ही सूखने लगी। अदरक को सुखाने हेतु भी कुछ महिलाओं ने यही प्रक्रिया अपनायी।

फसलों की बढ़त की अवस्था में बार–बार होने वाली भारी बारिश से अपनी फसलों को बचाने के लिए किसान आश्रयों और कम लागत पॉली हाउसों को बना रहे हैं। प्रताप सिंह नामक एक किसान ने अपनी प्याज की नर्सरी को बचाने के लिए अपशिष्ट बायोमॉस का उपयोग कर आश्रय बनाया है।

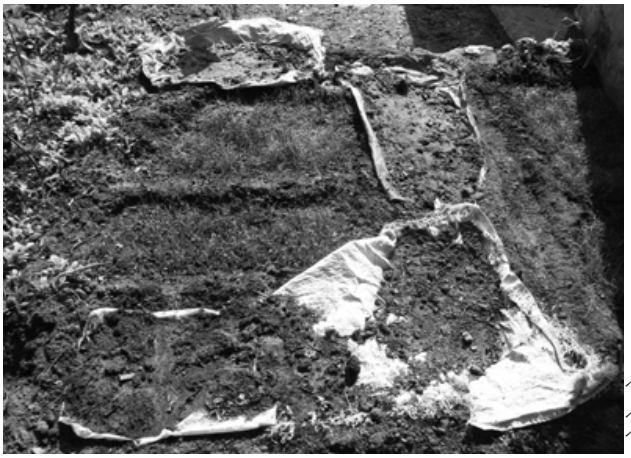

फोटो : लेखक

अंकुरण बढ़ाने के लिए रोहिदा गाँव के किसान प्याज की नर्सरी को ढ़कने हेतु प्लास्टिक बोरी का उपयोग कर रहे हैं।

स्थानीय नवाचार, शोध एवं विज्ञान

खेती से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान करने अथवा कार्यों को करने हेतु नये रास्तों/तरीकों का ईज़ाद करने के नवाचारी किसान (महिला व पुरूष दोनों) अपनी रचनात्मकता एवं ज्ञान का उपयोग कर रहे हैं। एक विशाल क्षेत्र में इसी प्रकार की चुनौतियों से जूझ रहे बहुत से किसानों के लिए ये ज्ञान बहुत उपयोगी व मूल्यवान हैं। स्थानीय परिस्थितियों, क्षेत्रों एवं पर्यावरण के सन्दर्भ में प्रासंगिक बाहरी क्षेत्रों से आये नवाचारों को भी अपनाया जा सकता है। एक क्षेत्र का सामान्य ज्ञान किसी अन्य क्षेत्र के लिए नवाचार हो सकता है।

पुरातन को सहेजने व उसे व्यवस्थित करने हेतु नवाचार एक नये विचार बिन्दु अथवा एक नये तरीके के तौर पर हो सकता है। इसके लिए खुलापन एवं निरन्तर खोज करने की आवश्यकता है। किसी भी नवाचार के प्रयोग एवं प्रसार की संभावनों को समझने के लिए व्यक्तिगत किसान की सफलताओं का मान्य होना आवश्यक है। हालांकि सीखने हेतु कोई उचित तंत्र न होने की दशा में किसानों द्वारा किये जाने वाले अधिकांश नवाचारों को समुदाय जान ही नहीं पाता है। स्थानीय लोगों की पहल एवं रचनात्मकता के आधार पर किये जाने वाले कृषिगत शोध के परिणामस्वरूप स्थान विशिष्ट समाधान मिलेंगे, जो कृषि को जलवायु सुरक्षित बना सकते हैं। किसानों के नवाचारों, किसानों के नेतृत्व में किये गये शोध व सहभागी नवाचार विकास को प्रोत्साहित करने वाले अभ्यासकर्ताओं का वैश्विक नेटवर्क प्रोलीनोवा (PROLINNOVA) एक उदाहरण है, जहां ज्ञान एवं शोध के केन्द्र में किसान हैं। ■

सोनाली बिष्ट
इनहियर
उत्तराखण्ड
वेबसाइट : www.inhereindia.org
ईमेल : sonalibisht@yahoo.co.in

Climate Change and Ecological approaches
LEISA INDIA, Vol. 19, No.2, June. 2017

मोटे अनाजों से स्वास्थ्यपरक खाद्य पदार्थों तक : आत्मनिरीक्षण का समय

देबजीत सारंगी और काव्या चौधरी

ओडिशा में कोंध जनजातीय समुदायों के लिए मोटे अनाज हमेशा से एक पारिस्थितिक–सांस्कृतिक प्रणाली का एक हिस्सा रहे हैं। कोंध समुदाय जीवन को स्थाईत्व प्रदान करने हेतु पृथ्वी एवं सभी जीव–जन्तुओं के साथ सम्बन्धों को बनाये रखने, साझा करने व देख–भाल की संस्कृति को पोषित करते हैं। सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने व उसे स्थाई बनाये रखने हेतु किसी भी बाहरी पहल को प्रोत्साहित करने से पहले समुदाय की पारम्परिक संस्कृतियों को समझना आवश्यक होगा।

खेती की कोंध प्रणाली उनकी परम्परा से गहरे तक जुड़ी है।

उड़ीसा के मध्य क्षेत्र के मध्य में जहां पर सिर्फ यूकेलिप्टस के पेड़ लगाये गये, बीटी काटन की खेती हो रही है और बाहरी निवेशों पर आधारित महंगी खेती हो रही है, वहीं पर एक गाँव कांधुगुदा है, जो कृषि–पारिस्थितिक ज्ञान को सहेजने का काम कर रहा है। कांधुगुदा के एक कोंध किसान आदि कुमरूका कहते हैं कि–''मैं अपने खेत से जो भी प्राप्त करता हूं, वह मेरे लिए पर्याप्त से अधिक है। यह मेरे परिवार, हमारे समुदाय, खेत में आने वाली चिड़ियों, कीटों एवं जानवरों को भोजन उपलब्ध कराता है। सभी पूर्ण एवं प्रसन्न हैं।''

खेती का कोंध तरीका

खेती के कोंध तरीके में सभी की पहुँच जमीन तक सुनिश्चित की जाती है। इसके अन्तर्गत परिवार के आकार के अनुसार भूमि का आंवटन होता है। अर्थात् यदि एक परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक है तो वहाँ पर अधिक भोजन की आवश्यकता को देखते हुए अधिक जमीन का आवंटन किया जाता है। सभी परिवार पिछली ऋतु में की गयी खेती से सावधानीपूर्वक बीजों को एकत्र करते हैं। एकत्र किये गये बीजों को गांव के मध्य में रख दिया जाता है और सभी परिवारों को बुवाई के लिए बराबर बीजों का वितरण किया जाता है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि यदि कोई परिवार बीज सुरक्षित न रख पाया हो तो उसे भी बुवाई के लिए बीज मिल जाये। जीवन जीने के इस तरीके में, इस समुदाय के सभी परिवारों की पहुँच जमीन एवं बीज तक हो जाती है। यहां पर बुवाई एवं कटाई सामूहिक रूप से की जाती है।

कोंध समुदाय द्वारा गाँव में एक सामान्य कोष बनाया गया है। आवश्यकता पड़ने पर इस कोष का उपयोग कोई भी कर सकता है। समुदाय द्वारा स्वयं ही तैयार किये गये इस गाँव कोष में लोग अनाज या पैसा, जो भी उपलब्ध होता है, उसे देते हैं और आवश्यकता के समय उसका उपयोग भी करते हैं। यह देखा जा सकता है कि कोंध समुदाय एक–दूसरे के साथ चिन्ताओं को साझा करने, एक–दूसरे की बेहतरी का ख्याल करने आदि से जुड़े लोकाचारों के साथ जीते हैं।

मोटे अनाजों से स्वास्थ्यकारी खाद्य पदार्थों तक

ऐतिहासिक रूप से यहां पर पॉली–फसल प्रणाली में कृषि–पारिस्थितिक पद्धतियों का उपयोग कर मोटे अनाज उगाये जाते रहे हैं। कोंध आदिवासी जैसे समुदायों में मोटे अनाज केवल अनाज नहीं हैं। वरन् यह पीढ़ियों से चले आ रहे सामूहिक सामुदायिक ज्ञान के भण्डार को दर्शाते हैं। वे

कोंध आदिवासी जैसे समुदायों में मोटे अनाज केवल अनाज नहीं हैं। वरन् यह पीढ़ियों से चले आ रहे सामूहिक सामुदायिक ज्ञान के भण्डार को दर्शाते हैं।

पहाड़ों, भूमि, आकाश एवं जंगलों की पूजा करते हैं और उनके कृषिगत अभ्यास धारिणी पेनु अर्थात् पृथ्वी को माता मानते हुए पूरे आदर व सम्मान के साथ सम्पादित किये जाते हैं। उनके लिए, मोटे अनाज एक विविधीकृत कृषि के तौर पर हैं, जो उनकी अन्तरात्मा से जुड़े हुए हैं और उन्हें स्थाईत्व प्रदान करते है।

वर्ष 1960 में, जब भारतीय कृषिगत परिदृश्य पर हरित क्रान्ति बहुत तेजी से उभरा था, उस समय सभी कृषि नीतियां धान एवं गेंहू की खेती करने वालों के पक्ष में हो जाने से मोटे अनाजों की खेती में उल्लेखनीय कमी आयी। हाइब्रिड बीजों के साथ ही खेतों को कीटों से बचाने के लिए रसायनिक कीटनाशकों एवं उर्वरकों को बढ़ावा दिया गया। उस समय कहा गया कि मोटे अनाज अपरिष्कृत अनाज हैं, जिसे सिर्फ ''गरीब'' ही खाते हैं। अब इन्हीं अनाजों को स्वास्थ्यपरक अनाजों के रूप में देखा जा रहा है और खाद्य सुरक्षा पर जलवायु परिवर्तन के पड़ने वाले प्रभावों से निपटने हेतु चाँदी की गोली के तौर पर देखा जाता है।

इस समुदाय के पारिस्थितिक कृषि ज्ञान के वैश्विक दृष्टिकोण के विपरीत अब कृषिगत प्रतिमान बदल रहे हैं और व्यापार के साथ ''खेती'' की संस्कृति का स्थान ''कृषि व्यापार'' ने ले लिया है। ऐसी स्थिति में आवश्यकताओं को देखते हुए ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों को मोटा अनाज की आपूर्ति को बढ़ावा देने के माध्यम से मोटे अनाजों पर आधारित कृषि–व्यापार मॉडल तैयार किया जा रहा है। आज असंचारी रोगों जैसे – मधुमेह, हृदय रोग एवं मोटापा जैसे रोगों से ग्रस्त मध्यम वर्गीय उपभोक्ताओं की उच्च माँग के फलस्वरूप यह आपूर्ति की जा रही है और लोग संतुष्ट हैं कि वे मोटे अनाजों को एक ''स्वास्थ्यकर भोजन'' के रूप में प्राप्त कर रहे हैं। मोटे अनाजों में भी उन्हीं प्रजातियों को प्रोत्साहित किया जा रहा है, जिनकी शहरी बाजारों में उच्च मांग है। मोटे अनाजों की विविधता को कम करने और सुरक्षित खेती की धारणा को कमजोर करने के पीछे यह एक अन्तर्निहित जोखिम है, जिससे विशेषकर जलवायु परिवर्तन के सन्दर्भ में मोटे अनाजों की खेती करने वाले किसानों की नाजुकता बढ़ रही है।

कुछ गम्भीर विमर्श

कोंध समुदाय इस बात को लेकर चिन्तित है कि जीवन का उनका यह तरीका अब उनके लिए गम्भीर चुनौती बन गया है। मोटे अनाजों की खेती कोंध समुदाय की पहचान का एक भाग है। इसकी खेती के दौरान सामूहिक तौर पर बुवाई, कटाई एवं बीज आदान–प्रदान को एक उत्सव के तौर पर मनाया जाता था, जिसके दौरान समुदाय के लोग आपस में मिलते थे, नाचते–गाते थे और अपनी स्वायत्तता व अपनी पारिस्थितिकी का आनन्द लेते थे। उनके जीवन जीने के तरीके के सामने आने वाली बहुत सी चुनौतियों जैसे – वनों का कम होना, जबरदस्ती विस्थापन, युवाओं का पलायन एवं अन्य बहुत सी समस्याओं से जूझने हेतु यही स्वायत्तता उनकी मजबूती भी रही है। यदि उनकी कृषि उनसे दूर हो जाती है, तो इसका परिणाम यह होगा कि वे एक–दूसरे को सहयोग देने की अपनी प्रथा से दूर हो जायेंगे और उनका समुदाय छिन्न–भिन्न हो जायेगा साथ ही समुदाय की पीढ़ियों से चली आ रही खाद्य उत्पादन, भण्डारण और एक–दूसरे के साथ साझा करने की दक्षता व ज्ञान को उनके बच्चे नहीं सीख पायेंगे।

उपभोक्तावादी संस्कृति को ध्यान में रखकर मोटे अनाजों की खेती करना सांस्कृतिक अखण्डता के लिए असम्मानजनक है और मोटे अनाजों की खेती को पुनर्जीवित करने में इसका कोई योगदान नहीं है। यहां अनेक ऐसे प्रासंगिक प्रश्न हैं, जिनका समाधान खोजा जाना जरूरी है। जैसे – क्या पॉलिश किये हुए चावल, गेंहू व मक्का के बदले मोटे अनाजों में यह क्षमता है कि वे कृषि–संस्कृति को कृषि–व्यापार में बदल सकें? क्या यह ज्ञान, बीज और भूमि पर किसानों के नियंत्रण के नुकसान के मुद्दे को सामने लाकर उनके समाधान की दिशा में सहयोग प्रदान कर सकता है?

अपने हालिया छपे एक लेख में पी. साईंनाथ ने इण्डिया वाटर पोर्टल, 2017 का उद्धरण देते हुए पूछा क्या गाँवों में लोगों को कम प्यास लगती है? इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि महाराष्ट्र में सूखा प्रभावित क्षेत्रों के किसान आत्महत्या कर रहे हैं और वहीं पर एक ऐसी इमारत भी बन रही है, जिसके प्रत्येक तल पर नहाने का तालाब है और ये सभी जमीनें उन किसानों की है जिन्होंने खेती छोड़ दी। पानी का संकट उत्पन्न होने के कारण किसानों द्वारा छोड़ी गयी हैं।

भारत के किसी भी बड़े शहर में रहने वाले लोगों की जीवनशैली इस तरह की होती है, कि उसमें जल की खपत बहुत ज्यादा होती है, बहुत बड़ी मात्रा में ठोस अपशिष्टों का उत्सर्जन होता है और औद्योगिक उत्पादों का अत्यधिक उपयोग होता है, जिससे पर्यावरण को दूषित करने वाली गैसों का उत्सर्जन अधिक होता है। लोगों का यह मानना बहुत ही गलत है कि मोटे अनाजों का अधिक से अधिक उपभोग कर हम बेहतर जीवन पा सकते हैं। हमारा उच्च पारिस्थितिकी रहन–सहन संसाधनों के असमान वितरण को दर्शाता है। लेकिन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इससे यह प्रदर्शित होता है कि किस प्रकार हमारा जीवन हमारे किसानों के अस्तित्व के लिए खतरा बन गया है। आज हमें अपने विकल्पों / चयनों के गुण–दोषों का निरीक्षण करने और सामाजिक कल्याण में निहित कृषि की संस्कृति को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है, और यही सामाजिक कल्याण के स्थाईत्व का मूल–मंत्र है।

निष्कर्ष

एक साथ खाने और एक–दूसरे को बीज वितरण करने के उत्सव को मनाने की इस संस्कृति के पीछे समरसता की गहरी भावना छुपी हुई है। असमानता को बढ़ावा देती आज की गतिविधियों/ विचारधारा के विपरीत इस विचारधारा में यह सुनिश्चित किया जाता है कि समुदाय में कोई भी व्यक्ति गरीबी के कारण भूखा नहीं सोयेगा। इसमें यह विश्वास छुपा हुआ कि एक का कल्याण दूसरों के कल्याण से गहराई से जुड़ा हुआ है। इसके अन्तर्गत चिड़ियां, कीट–पतंगे, पारिस्थितिकी एवं समाज में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति शामिल है। अतः बिना सामाजिक कल्याण की भावना के हम मोटे अनाजों को लम्बे समय तक के लिए पुनर्जीवित नहीं कर सकते। यदि हम ऐसा निरन्तर करते हैं तो हम अपने किसानों व पारिस्थितिकी के प्रति ईमानदार नहीं हो सकते और न ही नुकसान को हमेशा कम करने की अपनी भावना के साथ ईमानदारी बरत सकते हैं। जब हमने खाल्पादर की वृद्ध महिलाओं से पूछा कि क्या वे कभी भी 20 एकड़ भूमि पर खेती कर पायेंगी, तब वे महिलाएं बहुत जोर से हंसी और हमारे विचार को सिरे से खारिज करते हुए कहने लगीं – यदि हमारे पास शक्ति है, तो और कोई भी कारण नहीं है कि हम इसके लिए ना कहें। उन्होंने कहा कि किसी भी परिस्थिति में– ''हम जानते हैं कि अन्त में हम सभी एक साथ मिलकर भोजन करेंगे।''

हम कोंध जैसी पारम्परिक जनजातीय समुदायों का आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने झूठी आधुनिकता को भगवान मानने और उसके सामने झुकने से इनकार कर दिया। वे पृथ्वी प्रदत्त बहुआयामी उपहारों का हमेशा सम्मान करते हुए उपयोग करते हैं। वे अपने खेतों से गुजरने वाली छोटी सी चींटी का भी एक मनुष्य के समान ही सम्मान करते हैं और उन्हें प्रकृति प्रदत्त उपहारों का आनन्द लेने देते हैं।

■

देबजीत सारंगी और काव्या चौधरी
लिविंग फार्म्स
प्लाट नं० 1181/2146, रत्नाकर बाग– 2
टांकापानी मार्ग,
भुवनेश्वर – 751018, ओडिशा, भारत
ईमेल : livingfarms@gmail.com

Millet Farming Systems
LEISA INDIA, Vol. 19, No.4, Dec. 2017

श्रद्धांजलि

प्रसिद्ध जैविक किसान श्री एल. नारायण रेड्डी अब हमारे बीच नहीं रहे। उनका निधन 14 जनवरी, 2019 को हो गया। एक खेतिहर परिवार में जन्मे श्री रेड्डी ने अपने कठिन परिश्रम तथा समर्पण से खेती को लाभप्रद बनाया। खेती की जैविक विधाओं के प्रति इनकी गहरी समझ थी जो इन्होंने स्वयं करके अर्जित किया था। लीज़ा इण्डिया पत्रिका के साथ इन्होंने अपने अनुभवों को नियमित रूप से साझा किया, जिससे देश–विदेश के किसानों को लाभ मिला।

Issues and Themes of LEISA INDIA Published in English 2001-2017

V.3, No. 1, 2001 - Coping with disaster
V.3, No. 2, 2001 - Go global stay local
V.3, No. 3, 2001 - Lessons in scaling up
V.3, No. 4, 2001 - Biotechnology

V.4, No. 1, 2002 Managing Livestock
V.4, No. 2, 2002 - Rural Communication
V.4, No. 3, 2002 - Recreating living soil
V.4, No. 4, 2002 - Women in agriculture

V.5, No. 1, 2003 - Farmers Field School
V.5, No. 2, 2003 - Ways of water harvesting
V.5, No. 3, 2003 - Access to resources
V.5, No. 4, 2003 - Reversing Degradation

V.6, No. 1, 2004 - Valuing crop diversity
V.6, No. 2, 2004 - New generation of farmers
V.6, No. 3, 2004 - Post harvest Management
V.6, No. 4, 2004 - Farming with nature

V.7, No. 1, 2005 - On Farm Energy
V.7, No. 2, 2005 - More than Money
V.7, No. 3, 2005 - Contribution of Small Animals
V.7, No. 4, 2005 - Towards Policy Change

V.8, No. 1, 2006 - Documentation for Change
V.8, No. 2, 2006 - Changing Farming Practices
V.8, No. 3, 2006 - Knowledge Building Processes
V.8, No. 4, 2006 - Nurturing Ecological Processes

V.9, No. 1, 2007 - Farmers Coming together
V.9, No. 2, 2007 - Securing Seed Supply
V.9, No. 3, 2007 - Healthy Produce, People and Environment
V.9, No. 4, 2007 - Ecological Pest Management

V.10, No. 1, 2008 - Towards Fairer Trade
V.10. No. 2, 2008 - Living soils
V.10, No. 3, 2008 - Farming and Social Inclusion
V.10, No. 4, 2008 - Dealing with Climate Change

V.11, No. 1, 2009 - Farming Diversity
V.11, No. 2, 2009 - Farmers as Entrepreneurs
V.11, No. 3, 2009 - Women and Food Sovereignty
V.11, No. 4, 2009 - Scaling up and sustaining the gains

V.12, No.1, 2010 - Livestock for sustainable livelihoods
V.12, No.2, 2010 - Finance for farming
V.12, No.3, 2010 - Managing water for sustainable farming

V.13, No.1, 2011 - Youth in farming
V.13, No.2, 2011 - Trees and farming
V.13, No.3, 2011 - Regional Food System
V.13, No.4, 2011 - Securing Land Rights

V.14, No.1, 2012 - Insects as Allies
V.14, No.2, 2012 - Greening the Economy
V.14, No.3, 2012- Farmer Organisations
V. 14, No.4, 2012- Combating Desertification

V. 15, No.1, 2013- SRI: A scaling up success
V. 15, No.2, 2013- Farmers and market
V. 15, No.3, 2013- Education for change
V. 15, No.4, 2013- Strengthening family farming

V. 16, No. 1, 2014- Cultivating farm biodiversity
V. 16, No. 2, 2014- Family farmers breaking out of poverty
V. 16, No. 3, 2014- Family farmers and sustainable landscapes
V. 16, No. 4, 2014- Family farming and nutrition

V. 17, No. 1, 2015- Soils for life
V. 17, No. 2, 2015- Rural-urban linkages
V. 17, No. 3, 2015- Water-lifeline for livelihoods
V. 17, No. 4, 2015- Women forging change

V. 18, No. 1, 2016- Co-creation to knowledge
V. 18, No. 2, 2016- Valuing underutilised crops
V. 18, No. 3, 2016- Agroecology-Measurable and sustainable
V. 18, No. 4, 2016- Stakeholders in agroecology

V. 19, No. 1, 2017- Food Sovereignty
V. 19, No. 2, 2017- Climate Change and Ecological appraches
V. 19, No. 3, 2017- Ecological Livestock
V. 19, No. 4, 2017- Millet Farming Systems

स्थानीय नस्लों के साथ स्थाई दुग्ध व्यवसाय

केरल के पालक्कड जिले के कोट्टेक्कड गाँव के श्री मनी कोट्टेक्कड एक प्रगतिशील दुग्ध व्यवसायी हैं। वर्ष 2011 तक उन्होंने संकर गायों से दुग्ध व्यवसाय किया था। रख–रखाव, विशेषकर जानवरों के दाने की बढ़ती कीमतों ने उन्हें अपनी उत्पादन प्रणाली में बदलाव करने हेतु उत्प्रेरित किया और स्थानीय नस्लों के पशुओं के रख–रखाव में आसानी, कम उत्पादन तथा शहरी उपभोक्ताओं में स्थानीय नस्लों के दूध की बढ़ती मांग को ध्यान में रखते हुए उन्होंने देशी प्रजाति के पशुओं को पालने का निश्चय किया।

फोटो : लेखक

तैयार पंचगव्य के साथ मनी कोट्टेक्कड

अपने कुछ किसान मित्रों से श्री मनी ने उम्बलाचेरी प्रजाति के बारे में जानकारी प्राप्त की। वर्ष 2012 में उन्होंने संकर प्रजाति की गायों को हटाकर स्थानीय प्रजाति की दो गायों को रखा और आज उनके पास स्थानीय प्रजाति की 16 गायें हैं। इसके साथ ही उन्होंने इन गायों से प्राप्त गोबर व गौ–मूत्र का उपयोग करते हुए कम लागत के साथ जैविक कृषि प्रणाली को भी प्रयोग के तौर पर किया।

श्री मनी ने धान की कुछ विशिष्ट प्रजातियों जैसे नजावरा, श्रेयस आदि की खेती अपने खेतों में की। धान की खेतों से प्राप्त पुआल से उनके फार्म की गायों के चारा की पूर्ति हो गयी। इसके साथ ही वे अपने खेतों में भी जानवरों को चराते हैं। बिना किसी बाहरी निवेश पर निर्भरता के उनकी दुग्ध उत्पादन प्रति इकाई बढ़ी। उन्होंने अपने फार्म में दो बैलों का भी पालन किया, जिससे वे केरल की स्थानीय प्रजाति उम्बलाचेरी व वेचूर गायों का गर्भधारण कराते हैं।

यद्यपि अन्य गायों की तुलना में इन प्रजाति की गायों से बहुत कम दूध प्राप्त होता है। एक गाय से एक दिन में 3 लीटर दूध ही मिलता है, परन्तु शहरी उपभोक्ताओं से रू0 100 प्रति लीटर की दर से काफी अच्छा मूल्य मिलने के कारण नुकसान कम होता है। किसान शहरी उपभोक्ताओं को दूध की आपूर्ति स्वयं करते हैं। दूध के अलावा, वे अन्य दूसरी मूल्य सवंर्धित उत्पादों जैसे– घी, दही एवं मक्खन की नियमित आपूर्ति स्थानीय उपभोक्ताओं एवं होटलों को करते हैं। इसके लिए उन्होंने आवश्यक उपकरणों के साथ एक छोटी उत्पादन इकाई लगा रखी है।

इसके साथ ही, इन्होने जानवरों के अपशिष्टों जैसे गाय के गोबर एवं मूत्र से पंचगव्य (एक जैविक कीटनाशक), नहाने का साबुन, दंतमंजन (इन दोनों उत्पादों के लिए गाय के गोबर का उपयोग किया गया है) एवं अर्क (गौमूत्र से तैयार उत्पाद, जिसका उपयोग आयुर्वेदिक दवाईयों में किया जाता है) जैसे बहुत से उत्पाद तैयार किये हैं। श्री मनी ये सभी उत्पाद ''कर्म'' ब्राण्ड से बेचते हैं। इन विभिन्न उत्पादों को बेचने से उन्हें प्रतिमाह लगभग रू0 35,000 की आमदनी होती है। यद्यपि श्री मनी जैविक दुग्ध व्यवसाय के लिए तय सभी मानकों का पालन करते हैं, फिर भी उन्होंने अभी तक अपने उत्पादों का जैविक सत्यापन कराने की आवश्यकता महसूस नहीं की है। यदि वह अपने स्वयं के जैविक लेबल के साथ अपने उत्पादों को बेच सकें तो निश्चित तौर पर उन्हें अपने उत्पादों का बेहतर लाभ मिल सकता है।

बाक्स 1 : उम्बलाचेरी प्रजाति

यह तमिलनाडु की स्थानीय प्रजाति है जिसे जथी माडू, मोट्टाई माडू, दक्षिणी तंजोर एवं तेरकुथी माडू जैसे स्थानीय नामों से भी जानते हैं। अपनी ताकत एवं मजबूती के लिए जानी जाने वाली यह एक उम्दा शुष्क जानवर है। यह अपनी प्रत्येक ब्यांत पर औसतन 494 किग्रा दूध देती है जिसमें 4.94 प्रतिशत वसा और 8 प्रतिशत एसएनएफ होती है। संकर नस्ल के अन्य जानवरों की अपेक्षा इसमें संक्रामक बीमारियों का प्रकोप कम होता है।

इस कहानी का संकलन आईसीएआर–एनडीआरआई, करनाल, हरियाना में दुग्ध व्यवसाय विस्तार डिवीजन के पी एच डी स्कालर्स वी श्रीराम, अर्चना भट्ट और एस स्मिथा द्वारा किया गया है। अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें srieeram@gmail.com

■

Climate Change and Ecological approaches
LEISA INDIA, Vol. 19, No.2, June. 2017

पशुधन :
पहाड़ी अर्थव्यवस्था के प्राण व प्रेरणा

आर.के. मैखुरी, एल.एस.रावत, पी.सी. फोन्दानी, अजय मलेथा एवं वाई.एम. बहुगुणा

परम्परागत रूप से चरवाहा समुदायों की सामुदायिक संसाधनों तक आसानी से पहुँच होती थी और वे खेती एवं पशुधन दोनों को एक साथ प्रबन्धित करते थे। लेकिन सामूहिक संसाधनों पर स्वामित्व में धीरे–धीरे हो रहे ह्रास के कारण, वे बदलती परिस्थितियों से अनुकूलन स्थापित कर रहे हैं और अपने पशुधन की संख्या तथा उनके रख–रखाव के तरीकों में फेर–बदल कर रहे हैं।

जानवरों के लिए जंगल से चारा एकत्र कर ले जाती महिला

भारतीय हिमालयन क्षेत्र में निवास करने वाले चरवाहा समुदायों के लिए आजीविका का मूल स्रोत पशुधन हैं। दूध और मांस के रूप में खाद्य सुरक्षा के एक स्रोत के तौर पर पशुधन को पहाड़ी अर्थव्यवस्था का ''प्राण और प्रेरणा'' के रूप में समझा जाता है, जो ग्रामीण परिवारों को पूरक आमदनी प्रदान करता है और आजीविका की नाजुकता को कम करता हे। इसके अलावा खेतों को उर्वर बनाने के लिए पशुधन से प्राप्त खाद को एक महत्वपूर्ण और मूल्यवान संसाधन के तौर पर उपयोग किया जाता है। मध्य हिमालय के फसल–पशुधन मिश्रित खेती प्रणालियों में पशुधन और खाद्य उत्पादन प्रणाली का आपस में बहुत गहरा सम्बन्ध है।

चित्र 1 : मध्य हिमालय में जंगल, कृषि और पशुधन प्रणाली के बीच अन्तर्सम्बन्ध और अन्तर्निभरता

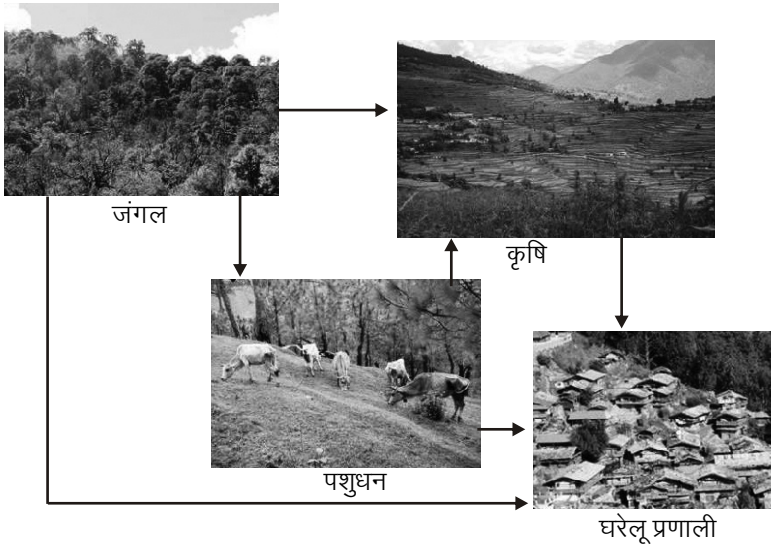

पारम्परिक रूप से पहाड़ी समुदायों ने चारागाहों एवं वनों दोनों को एक साथ प्रबन्धित किया है। अधिकांश परिवार बहुत कम भूमि होने के बावजूद अपने जानवरों को स्थाई तौर पर पालने के लिए अपने निजी संसाधनों के पूरक के तौर पर सामूहिक संसाधनों का आसानी से उपयोग करते थे। वनों, घासयुक्त जमीनों और फसल अवशेषों से पोषण लेकर पशुओं को खिलाते थे और पुनः पशुओं से प्राप्त गोबर को खाद के रूप में कृषिगत जमीनों में उपयोग करते थे। पहाड़ी खेती प्रणाली में वनों, घासयुक्त जमीनों, पशुधन और फसलों के बीच के इस जटिल अर्न्त–सम्बन्धों ने पीढ़ियों से पहाड़ी खेती को स्थाईत्व प्रदान करने में अपना योगदान दिया है। (चित्र–1)

पशुधन प्रबन्धन

हिमालय के अत्यधिक उँचाई वाले क्षेत्रों में निवास करने वाले भोटिया, बकरवाल, वन गुज्जर, गद्दी, लेपचा एवं मोनपास जैसे चरवाहा समुदाय परम्परागत रूप से घूमन्तु पशु पालक का काम करते हैं। वे ऋतुओं के आधार पर एक पारिस्थितिकी क्षेत्र से दूसरे पारिस्थितिकी क्षेत्र के अधिक उपयुक्त चराई क्षेत्रों में अपने पशुओं को लेकर घूमते रहते हैं। उत्तराखण्ड क्षेत्र में भेड़ व बकरी पालने वाले भोटिया आदिवासी समुदाय के साथ ही वनों में रहने वाले भैंस पालक वन गुज्जर उँचाई के वनों से अल्पाइन चारागाहों में पलायन कर

जाते हैं। इन क्षेत्रों में अन्य किसी उपयोग में न आ सकने वाली सीमान्त जमीनों पर प्राकृतिक रूप से उपलब्ध चारा संसाधनों पर पशुओं को चराने की अनुमति होती है।

उच्च हिमालयन क्षेत्र के गाँवों में परम्परागत अभ्यासों के आधार पर वार्षिक पशुधन प्रबन्धन किया जाता है। भेड़ों व बकरियों को खुले क्षेत्रों व वनों में छोड़ दिया जाता है, जहाँ वे पूरे वर्ष अपने मालिकों की देख–रेख में चरती रहती हैं। भेड़–बकरी पालक जाड़ों में अपने जानवरों के साथ पहाड़ों से नीचे आ जाते हैं और गर्मियों में पुनः वापस पहाड़ों पर चले जाते हैं। भेड़पालकों ने यह महसूस किया है कि नीचे के क्षेत्रों में पायी जाने वाली चारा फसलों एवं घासों की मात्रा एवं गुणवत्ता दोनों में अब ह्रास हो रहा है और जाड़ों में जब वे नीचे के क्षेत्रों में ठहरते हैं, उस समय उनके पशुओं की मृत्यु दर में वृद्धि भी हो रही है। सही से पोषण न मिलने के कारण मार्च के समय उनसे प्राप्त होने वाली ऊन की मात्रा में कमी होती है एवं उनकी गुणवत्ता भी बेहतर नहीं होती। गाँवों में रहने वाले पशुओं एवं घोड़ों को बसन्त, ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु में चराई हेतु सीवान (गांव के बाहर की सार्वजनिक भूमि) में ले जाते हैं, जबकि सर्दियों अर्थात् दिसम्बर से लेकर फरवरी तक उनको नाद में ही खिलाते हैं।

पशुओं का काम करने में लिंग व उम्र दोनों ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामान्यतः, हरा चारा एकत्र करने, पशुओं को खिलाने, पशुओं के रहने के स्थान की साफ–सफाई, चारा को इकट्ठा करने, उन्हें घर तक लाने व पशुओं के अपशिष्टों से खाद बनाने का सारा कार्य महिलाओं द्वारा मुख्य रूप से किया जाता है। घर की बुजुर्ग महिलाएं जानवरों से दूध निकालने एवं उनसे घी–मक्खन तैयार करने का काम करती हैं। जबकि घर के बड़े–बुजुर्ग पुरूष जानवरों के प्रजनन और पशु उत्पादों को बाजार में बेचने सम्बन्धी कार्यों को करते हैं। महिलाएं पशुओं को खिलाने व चारा एकत्र करने का 60 प्रतिशत से अधिक कार्य करती हैं जबकि कूड़ा एकत्र करने, पशुओं के रहने के स्थान की साफ–सफाई, खाद बनाने आदि के कामों में उनकी भागीदारी 88 प्रतिशत से भी अधिक होती है। मौसमी आधार पर चराई कराने हेतु स्थान परिवर्तन करने वाले चरवाहा समुदायों में पशुओं से सम्बन्धित 90 प्रतिशत कार्यों को पुरूषों द्वारा किया जाता है।

भेड़ों एवं बकरियों की संख्या को प्रबन्धित करना आवश्यक होता है। स्थानीय लोग पशुओं की संख्या घटाकर अथवा मांस के लिए अन्य उपभोक्ताओं को बेचकर या स्वयं मांस

> संरक्षण नीतियों को अपनाने और वन विभाग द्वारा वनों में चराई पर रोक लगाने के कारण पिछले दो दशकों में भेड़ों व बकरियों की संख्या में उल्लेखनीय गिरावट दर्ज की गयी है।

तालिका 1 : भेड़पालकों की सेवाओं का उपयोग करते हुए मानक के अनुरूप भेड़/बकरी पालन की वार्षिक लागत

विवरण	**लागत (रूपये में)**
200 भेड़ों/बकरियों के लिए अनाज 750 ग्राम/दिन/जानवर	99.50.00
नमक, मसाले, तेल आदि	850.00
उपहार के तौर पर दो भेड (प्रति भेड़ रू० 2800)	5600.00
दो जोड़ी जूते	900.00
दो कम्बल और दो जोड़ी ऊनी कपड़े	4500.00
धूम्रपान (रू० 190.00/भेड़पालक/माह)	2280.00
भेड़/बकरी के लिए नमक (2 किग्रा प्रति भेड़ या बकरी)	2400.00
कर (रू० 5.00 प्रति भेड़/ बकरी)	1000.00
कुल खर्च	**27480.00**
55 भेड़/बकरियों का विक्रय (कुल का 20 प्रतिशत)(दर रू० 4200 प्रति जानवर)	2,31,000.00
उन (1.7 किग्रा० प्रति भेड़)	56,000.00
कुल आय	2,87,000.00
200 जानवरों से प्राप्त शुद्ध आय प्रति	**2,59,520.00**
भेड़/बकरी से शुद्ध लाभ	**1298.00**

के रूप में उनका उपयोग कर उनका प्रबन्धन करते हैं। गांवों में लोग अपने पशुओं की मूल संख्या में से प्रति वर्ष लगभग 35 प्रतिशत घटा देते हैं हालांकि बेचे जाने वाले जानवरों की संख्या मात्र 20 प्रतिशत ही होती है। स्थानीय निवासियों ने यह देखा है कि 200 बकरियों एवं 200 भेड़ों तथा 4–6 घोड़ों या खच्चरों के झुण्ड को प्रबन्धित करने के लिए 2 लोगों की आवश्यकता होती है। यदि हम अनिश्चित संख्या में पशुओं को पालना प्रारम्भ कर दें तो प्रत्येक भेड़ या बकरी से रू0 1300 की शुद्ध आमदनी होती है (देखें तालिका सं0 1)। भेड़ों व बकरियों में लाभ– लागत का अनुपात अधिक होता है, घोड़ों या खच्चरों में लागत–लाभ का अनुपात इससे कम होता है जबकि बैल आदि का लागत–लाभ अनुपात सबसे कम होता है।

चुनौतियां एवं अभ्यासों में बदलाव

निरन्तर बढ़ती मानवीय गतिविधियों के कारण चरवाहा समुदायों का स्थाईत्व संकटों से जूझ रहा है। बहुत से जंगलों में पशुओं को चराना विवशता है। ''विशेष संरक्षण'' चाहने वाले तथाकथित ''संरक्षक'' लोगों के दबाव के चलते चरवाहा समुदाय अनिश्चित भविष्य का सामना कर रहे हैं। चराई क्षेत्रों में ह्रास, संरक्षित क्षेत्रों पर पारम्परिक अधिकारों तथा चारा की कमी के कारण बड़ी संख्या में पशुओं की उत्पादकता को बनाये रखना मुश्किल होता जा रहा है।

तालिका 2 : पिछले तीन दशकों (1980–85 से 2010–15) में उत्तराखण्ड के कुछ चयनित क्षेत्रों में पशुधन संख्या में बदलाव

पशुधन के प्रकार	घाटियों के नाम					
	नीति घाटी (10 गांव)		जोहर घाटी (13 गांव)		उपरी मन्दाकिनी घाटी (10 गांव)	
	1980–85	2010–15	1980–85	2010–15	1980–85	2010–15
गाय	1260	318	939	215	2860	1860
भैंस	–	–	–	–	318	201
घोड़े/खच्चर	430	160	590	188	436	415
भेड़/बकरी	17090	5310	15390	2319	4655	1610

संरक्षण नीतियों को अपनाने और वन विभाग द्वारा वनों में चराई पर रोक लगाने के कारण पिछले दो दशकों में भेड़ों व बकरियों की संख्या में उल्लेखनीय गिरावट आयी है। पिछले 30 वर्षों में भेड़ एवं बकरियों की जनसंख्या में औसतन 75.11 प्रतिशत की गिरावट आयी है (तालिका 2)। तीन घाटियों के गाँवों में बैल पालने वाले परिवारों की संख्या में कमी के कारण लोग खेती छोड़ने लगे हैं। हिमालय की उँची पहाड़ियों पर बसे गाँवों में पशुओं की संख्या न बढ़ने के पीछे विशेषकर जाड़ों के दिनों में चारा का संकट तथा प्रति व्यक्ति कृषि योग्य भूमि का घटते जाना मुख्य कारण हैं। इसके साथ ही आधुनिकीकरण के साथ, सामाजिक–आर्थिक स्थिति में बदलाव, शिक्षा के तीव्र प्रसार तथा सरकारी सुविधाएं पाने के लालच के बावजूद नयी पीढ़ी इस तरह के व्यवसायों को आगे बढ़ाने हेतु इच्छुक नहीं है।

पशुओं की घटती संख्या के साथ पशुधन प्रबन्धन अभ्यासों में भी परिवर्तन हुए हैं। कुछ क्षेत्रों में विशेषकर मवेशियों की नस्ल को उन्नत करने की दृष्टि से स्थान पर बांधकर चारा खिलाने वाले पशुपालकों की संख्या में वृद्धि हुई है। इससे एक तरफ तो घटते चारागाह क्षेत्रों की समस्या का समाधान हो रहा है तो दूसरी तरफ उच्च उत्पादक पशुधन जैसे उन्नत भैंसों और गायों के पालने पर प्रोत्साहन भी मिल रहा है। इन उन्नत व संकर जानवरों को बेहतर प्रबन्धन और पोषण के साथ ही स्थान पर चारा व भूसा खिलाना आवश्यक है। नस्ल की गुणवत्ता बनाये रखने के लिए गाँवों में कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों/सुविधाओं की कमी है।

निष्कर्ष

हिमालयन क्षेत्र के पारम्परिक समुदायों तथा विशेषकर घूमन्तू चरवाहा समुदायों की जीवनशैली में बदलाव हो रहे हैं। क्षेत्र में उपलब्ध संसाधनों के प्रभावी प्रबन्धन के लिए, गांवों द्वारा वहनीय क्षमता की सीमा के अन्दर मौसमी चारागाह परिवर्तन की निरन्तरता बनाये रखना आवश्यक है। उत्पादन प्रणाली को पुनर्जीवित करने और चराई के दबावों को कम करके उच्च हिमालयन क्षेत्रों तथा सुरक्षित वन क्षेत्रों के आस–पास बसे गाँवों में रहने वाले लोगों के साथ–साथ घूमन्तू चरवाहा समुदायों की आजीविका को स्थाईत्व प्रदान किया जा सकता है। पहाड़ी और पर्वतीय क्षेत्रों में, जहाँ पर कृषि–पशुधन उत्पादन प्रणालियां संचालित होती हैं, वहाँ पर पोषण पुनर्चक्रीकरण एवं मृदा उर्वरता के प्रबन्धन में बेहतर भूमिका निभाकर जानवर/मवेशी एक सकारात्मक योगदान देते हुए कृषि को स्थाईत्व प्रदान कर सकते हैं। खुले क्षेत्रों में उचित वृक्षों का रोपण करके चारा की कमी की समस्या से निपटा जा सकता है। इसके साथ ही क्षेत्र में स्थाई पशुधन प्रबन्धन एवं विकास को प्रोत्साहित करने हेतु शोध एवं प्रसार सम्बन्धों को भी सशक्त करना होगा। पशुधन उत्पादन में महिलाओं की उल्लेखनीय भूमिका को देखते हुए यह आवश्यक है कि कृषि–पशुधन मिश्रित कृषि प्रणालियों एवं विपणन में पशुधन के स्थाई प्रबन्धन हेतु महिलाओं को जोड़ा जाये। पारिस्थितिकी अनुकूलन पर जोर देते हुए पशुधन पालन पर एक उचित नीति की तत्काल में आवश्यकता है।

आभार

लेखकगण सुविधाएं प्रदान करने के लिए निदेशक, जी0बी0 पन्त नेशनल इन्स्टीच्यूट ऑफ हिमालयन एनवायरन्मेण्ट एण्ड सस्टेनेबल डेवलपमेण्ट, कोसी–कतरमाल, अल्मोड़ा का आभार व्यक्त करते हैं।

सन्दर्भ

मैखुरी आर0के0, राव के0एस0, सेमवाल आर0आई द्वारा लिखित चेन्जिग सिनेरियो ऑफ हिमालयन एग्रोइकोसिस्टम : लॉस ऑफ एग्रोबायोडाइवर्सिसी, एन इण्डीकेटर ऑफ एनवायरन्मेण्टल चेण्ज इन सेण्ट्रल हिमालया, इण्डिया, 2001, पर्यावरणविद, 20, 23–29।

नौटियाल एस0, राव के0एस0, मैखुरी आर0के0 एवं सक्सेना के0जी0 द्वारा लिखित ट्रान्सह्यूमेण्ट पाश्चरलिज्म इन द नन्दा देवी बायोस्फीयर रिजर्व, इण्डिया 2001, एमटी, रिसर्च 23(3), 255–262

■

आर०के० मैखुरी, एल०एस० रावत, पी०सी० फोन्दानी
अजय मलेथा एवं वाई०एम० बहुगुणा
जी०बी० पन्त नेशनल इन्स्टीच्यूट ऑफ हिमालयन एनवायरन्मेण्ट एण्ड सस्टेनेबल डेवलपमेण्ट, गढ़वाल इकाई
श्रीनगर (गढ़वाल) – 246174

Ecological Livestock
LEISA INDIA, Vol. 19, No.3, Sept. 2017

ब्राउन टॉप बाजरा के साथ 'कोराले रघु' के नाम से प्रचलित यह किसान

भूली-बिसरी फसलों का वापस आना

ब्राउन टॉप बाजरा

अनिता रेड्डी एवं कृष्ण प्रसाद जी

कर्नाटक का मुख्य भोजन बाजरा वापस आ रहा है। किसान अब फिर से बाजरा को उगाने लगे हैं। यह छोटे दानों वाला मोटा अनाज होता है, जो कम उपजाऊ जमीन व कम पानी में उगायी जा सकती है। जलवायु परिवर्तन से उत्पन्न संकट से निपटने के अलावा, अपनी उच्च पोषक गुणवत्ता के चलते ग्रामीण भारत में गरीबी के कारण कुपोषण व शहरी एवं अर्ध शहरी भारत में जीवन शैली की वजह से उत्पन्न बीमारी एवं कुपोषण से निपटने में भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

ब्राउन टॉप बाजरा, जिसे सामान्यतः सिगनलग्रास के नाम से जानते हैं, वह मोटे अनाजों में सबसे दुर्लभ है। यह मूलतः भारत की फसल है, जिसकी खेती कर्नाटक–आंध्र प्रदेश के सीमावर्ती इलाकों – कर्नाटक के तुमकुर, चित्रदुर्ग एवं चिक्काबल्लापुर तथा आंध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिलों के शुष्क क्षेत्रों में अच्छी तरह की जाती है। कन्नड़ में कोराले एवं तेलगु में अण्डकोर्रा के नाम से प्रचलित ब्राउन टॉप बाजरा को पूर्वी मध्य भारत में भी कुछ सीमित मात्रा में उगाया व उपयोग किया जाता है। पूर्वी मध्य भारत के इस क्षेत्र को सामान्य तौर पर हम बुन्देलखण्ड के नाम से जानते हैं। ब्राउन टॉप बाजरा शुष्क क्षेत्रों में उगायी जाने वाली और तापरोधी फसल है, लेकिन इसे बाढ़ग्रस्त निम्न भूमि पर भी लगाया जा सकता है। छाया के नीचे भी उगने की प्रकृति इसे अन्य फसलों से भिन्न करती है। सामान्यतः इस फसल की बढ़त इमली के पेड़ों की छाया में काफी अच्छी होती है। इसलिए, कर्नाटक के पावागढ़, मधुगिरी एवं सिरा क्षेत्रों में इस फसल को इमली के पेड़ों के नीचे की जमीनों पर उगाने का प्रचलन है। यह फसल शुष्क परिस्थितियों में उग जाती है और अपनी उच्च पोषण मूल्य के साथ ही जलवायु परिवर्तन से अनुकूलन स्थापित करने की क्षमता होने के कारण इसके प्रसार की क्षमता अधिक है।

अधिकतर स्थानों पर इसे मध्य अप्रैल से लेकर मध्य अगस्त तक लगाते हैं। इसके बाद बुवाई करने से इसकी पैदावार

कम होती है। इस फसल को अकेले भी लगाया जा सकता है और अन्य मौसमी फसलों के साथ भी इसका संयोजन स्थापित किया जा सकता है। इसकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि यह कम दिनों में तैयार होने वाली फसल है। यह फसल 75–80 दिनों में तैयार हो जाती है। कुछ ऐसे किसान, जो सिर्फ चारा के लिए इस फसल को उगाते हैं, वे 50 दिनों में ही इसे काट लेते हैं। इसे बुवाई के दौरान हल्की नमी की आवश्यकता होती है और बाद में फसल को बढ़ने और पकने के लिए एक या दो बारिश चाहिए होती है। छिटकवा विधि से इसकी खेती करने पर प्रति एकड़ 7–8 कुन्तल अनाज एवं चार ट्रैक्टर भर अच्छी गुणवत्ता वाला चारा होता है।

बाजरा न सिर्फ पोषक होता है, वरन् बहुत स्वादिष्ट भी होता है। अन्य अनाजों की तुलना में यह प्राकृतिक फाइबर की पूर्ति का एक समृद्ध स्रोत होता है। कोराले में लगभग 12.5 प्रतिशत फाइबर पाया जाता है, जो जीवनशैली के कारण उत्पन्न बीमारियों से निपटने हेतु दवा के तौर पर काम करता है। जो लोग नियमित रूप से बाजरा का सेवन करते हैं, उनमें हृदयरोग, अल्सर एवं मधुमेह की बीमारियां कम पायी जाती हैं। ब्राउन टॉप बाजरा को तेजी से चारा उत्पादन के लिए भी जाना जाता है। इसे नारियल और सुपारी के बागीचों में खाली स्थान का उपयोग करने के लिए, मृदा कटाव को नियंत्रित करने के लिए और अधिक भूसा उत्पादन जैसे अन्य विभिन्न उद्देश्यों के लिए भी उगाया जाता है। इसकी जड़ों में पड़ने वाली गांठें मृदा में पनपने वाली गोल कृमियों को दबा देती हैं। इसकी पत्तियों की बनावट धारदार होने के कारण पत्तियां फसलों को चूहों के आतंक से बचाती हैं। इसलिए, किसान अपनी नारियल एवं सुपारी के बागीचों में इस फसल को उगाते हैं।

मोटे अनाजों की वापसी

मैसूर और मांड्या जिले में पिछले तीन वर्षों से लगातार पड़ रहे सूखा के कारण इन क्षेत्रों में किसान पुनः मोटे अनाजों की खेती करने लगे हैं। मांड्या के किसानों को खरीफ एवं रबी दोनों ऋतुओं में कृष्णा राजा सागर बांध से पर्याप्त मात्रा में पानी मिलता था। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में जल की कमी के कारण वे अपनी नियमित बोयी जाने वाली फसलों में बदलाव करने की संभावनाओं पर भी विचार करने लगे हैं। वर्ष 2015 में, सहज समृद्धा द्वारा आयोजित मोटे अनाजों पर मेला और कार्यशाला ने किसानों को धान और गन्ना जैसी फसलों की खेती से आगे जाकर सोचने पर मजबूर किया। कार्यशाला में रबी ऋतु के दौरान एक वैकल्पिक फसल के रूप में मोटे अनाजों से किसानों को परिचित कराया गया। चूंकि मोटे अनाजों की अधिकांश प्रजातियां, विशेषकर ब्राउन टॉप बाजरा सूखा प्रतिरोधी

स्वस्थ खाद्य पदार्थ के तौर पर कोराले प्राकृतिक फाईबर का एक समृद्ध स्रोत है।

कोराले की विविध उपयोगिता को देखते हुए पूरे कर्नाटक में 2000 से अधिक किसान कोराले की खेती करते हैं।

प्रजाति है, इसलिए किसानों ने प्रयोग के तौर पर इसे लगाया और वे इसका बेहतर उत्पादन लेने में सफल रहे।

हलेबुदानूरू के एक किसान पुट्टास्वामी कहते हैं, ''मोटे अनाजों को अधिक पानी की आवश्यकता नहीं होती है और धान की तुलना में इनकी खेती करना सरल है। मैंने ब्राउन टॉप बाजरा की खेती की थी और भयंकर गर्मी तथा खेत में नमी की काफी कमी के कारण अधिक उत्पादन की उम्मीद नहीं की थी। लेकिन मेरे लिए आश्चर्यजनक था कि इतनी भयंकर व कठिन गर्मी व सूखा के बावजूद हमें अच्छी उपज मिली। इसके साथ ही जिस खेत में हमने इसे बोया था, वहां कीटों एवं बीमारियों का प्रकोप भी नहीं था।'' वह याद करते हैं कि कभी इस क्षेत्र में मोटे अनाज लोगों का मुख्य भोजन हुआ करते थे, पर पिछले तीन–चार दशकों में लोग इसके बजाय धान व गेंहूं की खेती करने लगे।

मोटे अनाजों की भरपूर फसल लेने वाले मांड्या जिले के गुलुरूडोड्डी के किसान सी0पी0 कृष्ण का अनुभव भी कुछ ऐसा ही था। वे कहते हैं ''इन फसलों को लगाने में कोई निवेश नहीं है। हमें केवल बीज ही खरीदना पड़ा और रसायनिक उर्वरक या कीटनाशक का उपयोग नहीं किया। फिर भी, खेत में पहले की ही नमी में यह फसल अच्छी तरह उगी और बेहतर उपज प्राप्त हुई। अब हम इस बात से सहमत हैं कि यदि किसान पानी के संकट से निपटने हेतु सूखा क्षेत्र में इसे लगायें तो लाभान्वित होंगे।''तुमकुर जिले के सिरा तालुक में हेन्डोर गांव के रघु ने इस फसल को प्रचलित करने में अथक प्रयास किया और आज वह ''कोराले रघु'' के तौर पर जाने जाते हैं। कोराले की खेती करने के अतिरिक्त, रघु, बीजों की आपूर्ति, मूल्य संवर्धन और विपणन के कामों में भी संलग्न हैं। वह कहते हैं ''कोराले की खेती में कम लागत लगती है। न्यूनतम निवेश करते हुए किसान इसकी खेती से बेहतर उपज प्राप्त कर सकते हैं।'' उत्तर कर्नाटक के कुछ हिस्सों में भी कोराले को लोकप्रियता मिल रही है। धारवाड़ जिले के कुन्दगोल तालुक में हनुमानहल्ली एवं मथिघट्टा गांवों के बहुत से किसानों ने कोराले की खेती करना प्रारम्भ कर दिया है। इसकी छाया सहिष्णु प्रकृति होने के कारण कोप्पल क्षेत्र के कुछ किसान भी पिछले तीन वर्षों से इस फसल को लगाने लगे हैं।

उन्नति में चुनौतियां

जलवायु में परिवर्तन के साथ, ब्राउन टॉप बाजरा किसानों के लिए एक वैकल्पिक फसल हो सकती है। फिर भी,

सुपारी के पेड़ों के बीच उगा कोराले

कोराले की खेती करना सरल होने के बावजूद, इसकी बाहरी परत काफी कठोर होने के कारण इसका प्रसंस्करण काफी मुश्किल होता है। परिणामस्वरूप, किसान एक कुन्तल कोराले बीज से मात्र 40–50 किग्रा0 अनाज ही प्राप्त कर पाते हैं। पहले अनाज को बीज से अलग करने हेतु जांता (आटा पीसने हेतु पत्थर की चक्की) का उपयोग किया जाता था। आज, जांता लगभग विलुप्त हो गया है और कोराले बीजों को मडुआ की तरह आटा चक्की में प्रसंस्कृत किया जाता है। चूंकि इसका आकार काफी छोटा होता है। अतः इसका प्रसंस्करण काफी कठिन होता है। इसके लिए उपयुक्त डिजाईन के प्रसंस्करण मशीनों को बनाने का प्रयास करना होगा। तीस वर्षों पहले, जब ब्राउन टॉप बाजरा के स्थान पर मूंगफली लगाया जाने लगा था, इसका विस्तार बहुत तेजी से हुआ, क्योंकि कोराले की अपेक्षा इसका प्रसंस्करण करना काफी आसान था और इसलिए बेहतर आमदनी भी होने लगी।

सभी लाभों के बावजूद और अच्छी–खासी लोकप्रियता हासिल करने के बाद भी अभी भी कोराले की खेती कुछ निश्चित क्षेत्रों में ही की जाती है। यह कम खेती वाली फसल है और लगभग समाप्त होने के कगार पर है। संरक्षण, लोकप्रिय बनाना एवं कोराले के लिए उचित व आसान प्रसंस्करण उपकरण को लगा कर किसानों की आजीविका को सुरक्षा प्रदान करने के साथ खाद्य सुरक्षा, कुपोषण एवं जलवायु परिवर्तन के मुद्दों से निपटने का एक दीर्घकालिक तरीका हो सकता है। ■

कृष्ण प्रसाद जी
सहज समृद्धा
नं० 7, दूसरा क्रास, 7वां मुख्य, सुल्तानापाल्या
बेंगालुरू– 560032
ईमेल : sahajaindia@gmail.com

Millet Farming Systems
LEISA INDIA, Vol. 19, No.4, June 2017

चरवाहा जन संसद
देखने-सुनने का एक मंच

मोनिका अग्रवाल एवं जेसिका दुनकन

भारत में चरवाहा समुदाय अपनी बातों को उचित मंच तक पहुँचाने हेतु लम्बे समय से संघर्ष कर रहे हैं। सांस्कृतिक और धार्मिक भेद-भावों के चलते यह स्थिति और भी विकट हुई है। लेकिन चरवाहा संसद एक नई पहल है जो उन्हें अपनी पहचान बनाने, समूह के तौर पर पहचाने जाने तथा राजनीतिक गतिविधियों के संचालन हेतु तैयार कर रही है। चरवाहा संसद एक ऐसी जगह है, जहां राजनैतिक, धार्मिक अथवा जातिगत भेद-भाव के बगैर चरवाहा समुदायों को मिलने, अपने मुद्दों पर चर्चा करने और उनका समाधान निकालने हेतु एक मंच मिलता है।

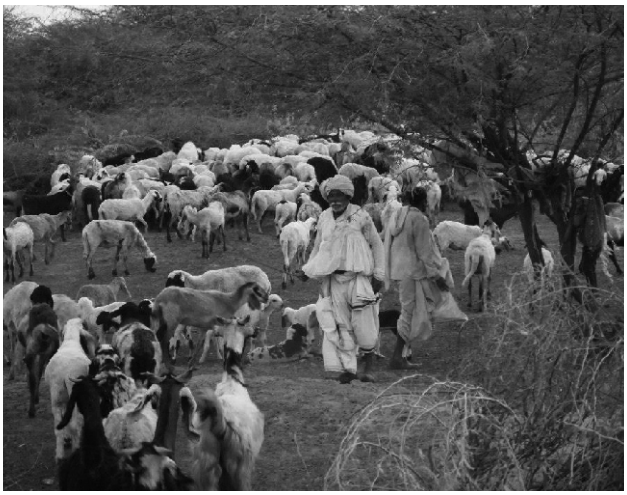

फोटो : जेसिका दुनकन

दिनभर चराने के बाद भेड़ों व उनके बच्चों को वापस ले जाते खोखोरा गांव के चरवाहा

विश्व के अन्य देशों की तरह ही भारत के चरवाहा समुदायों में भी विभिन्न सामाजिक समूहों का प्रतिनिधित्व रहता है, जो पशुपालन से जुड़े अपने अनुभवों एवं विशेषज्ञता को साझा करते हैं। इसमें पशुप्रजनक, पशुपालक एवं दुग्ध उत्पादक आदि शामिल हैं। हालांकि वे स्थानीय, राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर पशुपालन से सम्बन्धित विकास नीतियों के बारे में सुनने व उसे देखने से अछूते रहते हैं। वर्ष 2008 में, चरवाहा समुदायों की राजनीतिक उपेक्षा के मुद्दे को सन्दर्भित करते हुए, गुजरात की एक स्वैच्छिक संगठन मार्ग ने प्रशासनिक प्रक्रियाओं के अन्दर चरवाहा समुदायों की स्थिति एवं आवाज को मजबूती प्रदान करने के लिए चरवाहा संसद नाम से एक मंच को स्थापित किया।

समानता पर केन्द्रित

यह चरवाहा संसद चार मुख्य मूल्यों / सिद्धान्तों से निर्देशित होती है, पहला, किसी भी स्पष्ट धार्मिक, जाति, सम्प्रदाय, भौगोलिक अथवा राजनीतिक सम्बद्धता या दृष्टिकोण को बढ़ावा नहीं दिया जाना चाहिए। दूसरा मूल्य / सिद्धान्त कुछ इस तरह से परिभाषित किया गया – ''स्वयं जीतो और दूसरों को जीतने में मदद करो''। तीसरा, संसद की गतिविधियों में सहभागिता निभाने हेतु सभी चरवाहों को समान रूप से अवसर प्रदान किया जाना चाहिए और चौथा, संसद के सभी पहलुओं को शामिल किया जाना है। यह चौथा मूल्य इस सिद्धान्त से सम्बन्धित है कि संसद के दौरान प्रत्येक को बराबरी का अधिकार दिया जाये और इसी लिए लोग यहां पोडियम के बजाय गोलाई में बैठकर चर्चा करते हैं।

स्वाभिमान एवं सामंजस्य पर केन्द्रित

सदियों से असंगठित चरवाहा समुदायों के बीच एक सामाजिक आंदोलन और सामूहिकता की भावना को जागृत करने हेतु चरवाहा संसद ने एक मंच प्रदान किया है। कच्छ के एक चरवाहा जयसिंह भाई के शब्दों में ''चरवाहा संसद ने चरवाहों को एकजुट किया है। यह हमारी एकता को स्थाई बनाये रखने के लिए रास्ते तलाशने में भी मदद करेगा।'' भारत में अपने वाहनों पर जाति अथवा सम्प्रदाय को उल्लिखित करना लोगों के लिए एक सामान्य सी बात है। पिछले कुछ वर्षों में गुजरात में चरवाहा समुदाय के युवाओं में अपने वाहनों के पीछे ''मालधारी'' लिखवाने का प्रचलन तेजी से प्रारम्भ हुआ है।

चरवाहा संसद के कारण एक और उल्लेखनीय बात यह हुई कि इस समुदाय की पुरानी प्रथाएं एवं परम्पराएं फिर से जीवित हो गयीं जैसे– दूध का आदान–प्रदान। इससे सामाजिक सम्बन्धों को मजबूती प्रदान करने में काफी मदद मिलती है। तीसरे चरवाहा संसद के दौरान 80 गाँवों से लगभग 2500 परिवारों ने 2500 लीटर दूध, 150 किग्रा0 घी एवं अन्य खाद्य सामग्रियों का योगदान जन संसद को

दिया था। इसने भविष्य में होने वाली संसद के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया और बाद के सभी कार्यक्रम चरवाहों के अंशदान से ही आयोजित किये गये।

महिलाएं एवं युवाओं पर केन्द्रित

चरवाहा समुदाय की महिलाओं को नेतृत्व की भूमिका में लाने हेतु वातावरण तैयार करने में भी संसद सफल रही है। संसद के दौरान महिलाओं को बोलने के लिए स्थान एवं माइक दोनों उपलब्ध कराकर इस सफलता को प्राप्त किया गया। प्रशिक्षण से अलग हटकर, महिलाओं को आवश्यक रूप से पुरूषों के समान दर्जा दिया गया और संसद में इसे मान्यता व स्वीकृति दोनों मिली। हालाँकि पुरूषों की तुलना में महिलाओं की संख्यात्मक सहभागिता कम है, फिर भी उन्होंने बहुत बड़ा योगदान दिया है। वर्ष 2016 में गुजरात के कच्छ जिले में आयोजित संसद में यह स्पष्ट हो गया था कि भूमि अधिकार में चरवाहा समुदाय द्वारा किये गये संघर्ष में महिलाओं की सहभागिता के बिना सफलता नहीं मिल सकती। इस स्पष्टता के साथ महिलाओं ने भूमि पर अपना अधिकार पाने के लिए की जाने वाली लड़ाई में अपने ऊपर अधिक जिम्मेदारी ले ली। इसी प्रकार, समुदाय के युवा वर्ग संसद को आयोजित करने के दौरान निमंत्रण बांटने, व्यवस्थागत प्रबन्धन, लोगों को अंशदान देने हेतु प्रोत्साहित करने और अंशदान एकत्र करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। युवा सदस्यों ने वरिष्ठ सदस्यों को आसानी से अपने संरक्षक के तौर पर स्वीकार कर लिया है और इसी प्रकार समुदाय के वरिष्ठ सदस्यों ने युवा समुदाय को सामर्थ्यवान नेता के तौर पर मान लिया है।

अवरोधों को तोड़ना

चरवाहा संसद ने विवादों का निपटारा करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वर्ष 2012 के चरवाहा संसद में ऐतिहासिक प्रतिद्वन्दी सिन्धी और धीवर चरवाहा समुदायों ने पहली बार एक साथ मंच साझा किया था। यह एक बड़े सामाजिक व राजनीतिक हलचल का इशारा है। एक बुजुर्ग चरवाहे ने इस पर टिप्पणी की कि "अन्य लोगों ने समुदाय को तोड़ने की कोशिश की, परन्तु संसद उन्हें एक साथ ला रहा है।" वास्तव में, शायद संसद की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने लोगों के बीच जाति, सम्प्रदाय, स्थान, राजनीति एवं धर्म के आधार पर बढ़ रही दूरी को कम किया और चरवाहों को एक होने में मदद की। इस तरह की अन्यत्र कहीं कोई पहल नहीं की गयी है।

स्वामित्व लेना

आज, आयोजक समुदाय से निवेश प्राप्त कर मार्ग व मालधारी विकास संगठन चरवाहा संसदों का आयोजन कर रहा है। मुख्य मूल्यों का सम्मान सुनिश्चित करने के लिए मार्ग संस्था ने आयोजकों के साथ–साथ काम किया है। चरवाहा संसद की प्रक्रियाएं एवं मूल्य व्यवस्थित ढंग से एक दूसरे को हस्तान्तरित करने और सहभागिता के माध्यम से सीखे जा रहे हैं। विभिन्न क्षेत्रों में प्रत्येक संसद के बाद समुदायों द्वारा उन कार्यों की पहचान की जाती है, जो आगामी संसद के लिए उपयुक्त हों और फिर आयोजक उन पर काम करना प्रारम्भ कर देते है।

पहले संसद को पूरे तौर पर वित्तीय सहायता मार्ग संस्था द्वारा उपलब्ध कराई गयी थी। जबकि पांचवीं संसद के आयोजन में सभी खर्चों का वहन समुदाय ने किया। इस प्रकार चरवाहा संसद ने समुदाय के अन्दर स्वामित्व लेने की भावना को जगाया है। प्रत्येक क्षेत्र में समुदाय ने नगद अंशदान के अलावा, दूध, आटा, घी, सब्ज़ियां आदि खाद्य सामग्री के रूप में अंशदान एकत्र करने तथा लोगों के ठहरने एवं अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने की भी जिम्मेदारी ली है। इस व्यवस्था ने आपसी विश्वास एवं पारदर्शिता बढ़ाने के साथ ही संसद के स्वामित्व एवं स्थानीय स्वाभिमान को बलवती किया है। इसी के साथ, इसने समुदाय द्वारा की जा रही गतिविधि के तौर नियमित तौर से संसद का आयोजन व विचारों को साझा करने के लिए भी सशक्त वातावरण तैयार किया है।

चुनौतियां

चरवाहा संसद चरवाहों के लिए, चरवाहों द्वारा अवसर उपलब्ध कराने के लिए परिपक्व हो गया है। इसमें कोई नेता नहीं है और न ही इसका कोई तय नियम–कानून है। संसद / बैठक को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए बहुधा युवा नेता होते हैं, जो मालधारी विकास संगठन और मार्ग संस्था के साथ काम करते हैं। तय नियम–कानून न होने के चलते, इनके लोगों को बहुधा अवसरों का मिलना चुनौतीपूर्ण हो सकता है। चरवाहा संसद की सफलता को देखते हुए, मार्ग ने संसद के सभी संयोजन को मालधारी विकास संगठन को हस्तान्तरित करना प्रारभ कर दिया है। समुदाय के सभी लोगों को संगठित कर उनसे प्राप्त सीखों को जानते व समझते हैं ताकि चरवाहा संसद के आयोजन

चरवाहा संसद क्या है?

चरवाहा संसद एक ऐसा मंच है, जो पूरे गुजरात में चरवाहों से सम्बन्धित राजनीतिक एजेण्डा को तय करने और चरवाहों को प्रभावित करने वाले मुद्दों पर चर्चा करने के लिए प्रत्येक वर्ष आयोजित की जाती है। वर्ष 2008 में पहली संसद का आयोजन किया गया था। प्रत्येक बार भिन्न– भिन्न चरवाहा समुदाय इस संसद के आयोजन की जिम्मेदारी लेते हैं। संसद का स्थान, उसकी व्यवस्था एवं खाने की जिम्मेदारी आयोजक समुदाय मिल–जुल कर करता है। औसतन, 2000–2500 चरवाहा महिला एवं पुरूष इस संसद में भाग लेते हैं, परन्तु उपस्थिति की संख्या कहीं निश्चित नहीं है। गुजरात चरवाहा संसद में विशेषज्ञ के तौर पर अन्य राज्यों के चरवाहा भी शामिल होते हैं। फिर भी, गुजरात के विभिन्न क्षेत्रों से आये चरवाहों की संख्या अधिक होती है।

फोटो : मार्ग

चरवाहा संसद : प्रशासनिक प्रक्रियाओं में चरवाहा समुदायों की आवाज व स्थिति को मजबूत करने हेतु एक मंच

से आगे भी उनकी समझ का विस्तार हो सके। उदाहरण के तौर पर, यद्यपि यह एक लचीली प्रक्रिया है, परन्तु किसी ढांचा में न बंधा होना इसकी एक बड़ी चुनौती है। इसके साथ ही प्रत्येक समुदाय की आयोजित करने की क्षमता भी भिन्न–भिन्न है। जैसा कि सामुदायिक संगठन में लगे लोग भी मानते हैं कि कुछ प्रक्रियाओं को एक स्पष्ट और निर्दिष्ट तरीके से नहीं विकसित किया गया है। संसद को सहयोग देने और भागीदारी करने के लिए लचीलापन, धैर्य और समझदारी आवश्यक शर्ते हैं।

आशा का उदय

चरवाहा संसद चरवाहों को अपनी पहचान स्थापित करने हेतु आवश्यक व उचित अवसर प्रदान करती है। साथ ही गुजरात के विभिन्न हितभागियों के साथ साझा करने हेतु अपनी एक विकास एवं राजनीतिक कार्ययोजना भी तैयार करती है। संसद एक ऐसा मंच प्रदान करती है, जहां चरवाहे अपनी समस्याओं पर चर्चा करें और उसके समाधान हेतु कार्य कर सकें। उदाहरणार्थ, संसद में सहभागिता के बाद, नखतराना गांव के चरवाहा, सीताबेन ने ऊन के कम दाम तथा भूमि पर अधिकार को लेकर अपनी आवाज बुलन्द की। इस सन्दर्भ में वे जिलाधिकारी से मिले और मुख्यमंत्री को एक आवेदन पत्र भी लिखा।

अब यह एक सामान्य समझ उभर रही है कि संसद के लिए द्विस्तरीय ढांचा विकसित करने का सही समय आ गया है। पहला राज्य स्तर पर और दूसरा राष्ट्रीय स्तर पर। अन्य राज्यों में इसी प्रकार की गतिविधियों को आयोजित करने में रूचि उत्पन्न होने के कारण वर्ष 2016–17 में भारत के सात अन्य राज्यों में इस पहल को अपनाया गया और 2019 तक 10 से अधिक राज्यों ने इसे अपनाया। चरवाहा समुदायों ओर राज्य एवं राष्ट्रीय सरकारों के बीच उत्पन्न खाई को भरने हेतु यह मंच एक पुल का काम करता है और इससे निश्चित तौर पर प्रशासन उन्नत हुआ है। चरवाहा समुदायों में भारत के बाहर भी लोगों की रूचि उत्पन्न हुई है और चरवाहों की आवाज को सशक्त बनाने के लिए वैध प्रतिनिधि के तौर पर साउथ एशिया चरवाहा संसद को विकसित करने की संभावना बन रही है जो पूरे साउथ एशिया में चरवाहा समुदायों के मुद्दों को लेकर नीतिगत पहल हेतु एक दबाव समूह के तौर पर कार्य कर सके। ■

मोनिका अग्रवाल
फैसिलिटेटर
साउथ एशिया पाश्चरोलिस्ट एलायन्स (एसएपीए)
ईमेल : monikka.agarwal@gmail.com

जेसिका दुनकन
एसोसियेट प्रोफेसर, रूरल सोशियोलॉजी
वाशिंगटन यूनिवर्सिटी
ईमेल : jessica.duncan@wur.nl

Ecological Livestock
LEISA INDIA, Vol. 19, No.3, Sept. 2017